

आगे धर्मकथाके चार भेदोका स्वरू प कहते है--

आक्षेपणी स्वमतसंग्रहणी समेक्षी, विक्षेपणी कुमतनिग्रहणी यथार्हम ।  
संवेजनी प्रथयितु सुकृतानुभावं, निर्वेदनी वदतु धर्मकथां विरक्त्यै ॥८८॥

समेक्षी--सर्वत्र तुल्यदर्शी उपेक्षाशील इत्यर्थः । सुकृतानुभाव--पुण्यफलसंपदम । विरक्त्यै--  
भवभोगशरीरेशु वैराग्यं जनयितुम ॥८८॥  
अथ स्वाध्यायसाध्यान्यभिधातुमाह--

प्रजोत्कर्षजुषः श्रुतस्थितिपुषश्चेतोक्षसंज्ञामुषः  
संदेहच्छिदुराः कषायभिदुराः प्रोद्यत्तपोमेदुराः ।  
संवेगोल्लसिताः सदध्यवसिता सर्वातिचारोज्झिताः  
स्वाध्यायात् परवाद्यशडिकतधियः स्युः शासनोदभासिनः ॥८९॥

---

धर्मकथाके चार भेद है--आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेजनी और निर्वेदनी । समदर्शी वक्ताको यथायोग्य अनेकान्त मताक संग्रह करनेवाली आक्षेपणी कथाको, एकान्तवादी मतोका निग्रह करनेवाली विक्षेपणी कथाको, पुण्यका फल बतलानेके लिए संवकजनी कथाको और संसार शरीर और भोगेमे वैराग्य उत्पन्न करेनकेलिए निर्वेदनपी कथाको कहना चाहिए ॥८८॥

विशेषार्थ--भगवती आराधना ( गा-६५६-६५७ ) मे धर्मकथाके उक्त चार भेद कहे है । जिस कथांमे ज्ञान और चारित्रका कथन किया जाता है कि मति आदि ज्ञानोको यह स्वरू प है और सामायिक आदि चारित्रका यह स्वरू प है उसे आक्षेपणी कहते है । जिस कथांमे स्वसमय और परसमयका कथन किया जाता है वह विक्षेपणी है । जैसे वस्तु सर्वथा नित्य है, या सर्वथा क्षणिक है, या सर्वथा एक ही है, या सर्वथा अनेक ही है, या सब सत्स्वरू प ही है, या विज्ञानरू प ही है, या सर्वथा शून्य है इत्यदि । परसमयको पूर्वपक्षके रू पमे उपस्थित करके प्रत्यक्ष अनुमान और आगमसे उसमे विरोध बतलाकर कथंचित नित्य, कथंचित अनित्य, कथंचित एक, कथंचित अनेक इत्यादि स्वरू पमयका निरू पण करना विक्षेपणी कथां है । ज्ञान, चारित्र और तपके अभ्याससे आतममे कैली-कैली शक्तियों प्रकट होती है इसका निरू पण करनेवाली कथां संवेजनी है । शरीर अपवित्र है क्योंकि रस आदि सात धातुओसे बना है, रज और वीर्य उसका बीज है, अशुचि आहरसे उसकी वृद्धि हाती है और अशुचि स्थानसे वह निकलता है । और केवल अशुचि ही नहीं है असार भी है । तथा स्त्री, वस्त्र, गन्ध, माला-भोजन आदि भोग प्राप्त होनेपर भी तृप्ति नहीं होती । उनके न मिलनेपर या मिलनेकेबाद नष्ट हे जनेपवर महान शोक होता है । देव और मनुष्य पर्याय भी दुःखबहुल है, सुख कम है । इस प्रकार शरीर और भोगोसे विरक्त करनेवाली कथां निर्वेदनी है ॥८८॥

स्वाध्यायकेलाभ बतलाते है--

सवाध्ययसे मुमुक्षुकी तर्कणाशील बुद्धिका उत्कर्ष होता है, परमागमकी स्थितिका पोषण होता है अर्थात् परमागमकी परम्परा पुष्ट होती है। मन, इच्छियाँ और संज्ञा अर्थात् आहार, भय, मैथुन और परिग्रहकी अभिलाषक निरोध होता है। सन्द्रेह अर्थात् संशयका

---

आक्षेपिणी कथा कुर्यात् प्राज्ञः स्वमतसंग्रहे । विक्षेपिणी कथां तज्ज्ञः कुर्याद दुर्मतनिग्रहैः ॥

संवेदिनी कथां पुण्यफलसम्पत्प्रपचने । निर्वेदिनी कथां कुर्याद वैराग्यजननं प्रति ॥

--माहपु. १।१३५-१३६ ।

संज्ञाः-- आहारद्यभिलाषाः । सदध्यवसिताः--प्रशस्ताध्यवसायाः । शासनोद्धासिनः--

जिनमतप्रभवकाः ॥८९॥

अथ स्तुतिलक्षणस्वाध्यायफलमाह--

शुद्धज्ञानधनादर्हदधतगुणग्रामग्रहव्यगधी-

स्तद्व्यक्त्युदधुरनतनोक्तिमधुरस्तोत्रस्फुटोदगारगीः ।

मूर्ति प्रश्रयनिर्मितामितव दधत्किचिदुन्मुदय-

त्यात्मस्थाम कृती यतोरिजयनिं प्राप्नोति रेखा धुरि ॥९०॥

---

छेदन होता है, क्रोधादि कषायोका भेदन होता है। दिनोदिन तपमे वृद्धि होती है। संवेग भाव बढता है। परिणाम पशस्त होते हैं। परिणाम प्रशस्त होते हैं। समस्त अतीचार दूर होते हैं, अन्यवादियोका भय नहीं रहता, तंथा जिनशासनी प्रभांवना करनेमे मुमुक्षु समर्थ होता है ॥८९॥

विशेषार्थ--समस्त जिनागम चार अनुयोगोमे विभांजित है--प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और दव्यानुयोग। जिसमे त्रेसट शलाका पुरु षोका चरित वर्णित है तथा धार्मिक कथाएँ है वे सब ग्रन्थ प्रथमानुयोगमे आते है। ऐसे ग्रन्थोका स्वाध्याय करनेसे पुरातन इतिवृत्तका ज्ञान होनेकेसाथ पुण्य और पापके फलका स्पष्ट बोध होता है। उससे स्वाध्याय करनेवालेका मन पापसे हटकर पुण्यकार्योमे लगता है। साथ ही पुण्यमे आसक्तिका भी बुरा फल देखकर पापकी तरह पुण्यको भी हेय मानकर संसारसे विरक्त होकर आत्मसाधनामे लगता है। उनमे उनका मन लगता है इससे ही इसे प्रथम अनुयोग कहा है। करण परिणामको कहते है और करण गणितके सूत्रोकी भी कहते है। अतः जिन ग्रन्थोमे लोकरचनाका, मध्यलोकमे होनेवाले कालके परिवर्तनका, चारो गतियोका तंथा जीवके परिणामोकेआधारपर स्थापित गुणस्थानो, मार्गणास्थानो आदिका कथन होता है उन्हे करणानुयोग कहते है। करणानुयोगके आधारपर ही विपाकविचय और संस्थानविचय नामक धर्मध्यान होते है। और गुणस्थानोके बोधसे जीव अपने परिणामोको सुधारनेका प्रयत्न करता है। जिन ग्रन्थामे श्रावक और मुनिकेआचारका वर्णन होता है उन्हे चरणनयोग कहते है। मोक्षकी प्राप्तिमे चारित्रका ता प्रमुख स्थान है अतः मुमुक्षुको चारित्र पतिपापदक ग्रन्थोका ता स्वाध्याय करना ही चाहिए। उसके बिना चारित्रकी रक्षा

और वृद्धि सम्भव नहीं है। तथा जीवजीवदि सात तत्त्वोका, नव पदार्थोका, षट द्रव्योका जिसमे वान हो उसे द्रव्यनुयोग कहते है। इसके साथ ही स्वाध्यायसे बुद्धि तीक्ष्ण होती है, इन्द्रिय-मनआदिको वशम करनेका बल मिलता है। दर्शन शास्त्रका अध्ययन करनेसे किसी अन्य मतावलम्बीसेस भय नहीं रहता। आजकेयुगमे स्वाध्यायसे बढकर दूसरा तप नहीं है। अतः स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए ॥८९॥

आगे स्तुतिरू प स्वाध्यायका फल कहते है--

स्तुतिरू प स्वाध्यायमे प्रवृत्त मुमुक्षुकी मनोवृत्ति निर्मल ज्ञानधनस्वरू प अर्हन्त भगवानके गुणोके समूहमे आग्रही होनेके कारण आसक्त रहती है। उसकी वचनप्रवृत्ति भगवानके गुणोकी व्यक्तिसे भरे हुए और नयी-नयी उक्तियोसे मधुर स्तोत्रोके प्रकट उल्लासको लिये हुए होती है। तथा शरीयष्टि ऐसी होती है मानो वह विनयसे ही बनी है। इस तरह

ग्रहः--अभिनिवेशः। आत्मस्थांम--स्ववीर्यम। अरिजयिनां--मोहजेतृणाम ॥९०॥

अथ पचनमस्कारस्य परममडलत्वमुपपाद्य तज्जपस्योत्कृष्टस्वाध्यायरू पतां निरू पयति--

मलमखिलमुपास्त्या गालयत्यडिनां य-

च्छिवफलमपि मडं लाति यत्तत्पराधर्मम।

परमपुरु षमन्त्रो मडलं मडलानां

श्रुतपठनतपस्यानुत्तरा तज्जपः स्यात् ॥९१॥

अखिलं--उपात्तमपूर्व च। उपास्त्यो--वाडनसजपकरणलक्षणराधनेन। मडं--पुण्यम। उक्तं च--

ध्मलं पापमिति प्रोक्तमुपचारसमाश्रयात्।

तद्धि गालयतीत्युक्तं मडलं पण्डितैर्जनेः ॥३

तथा--

ध्मडशब्दोयमुद्दिष्टः पुण्यार्थस्याभिधायकः।

तल्लातीत्युच्यते सध्दिर्मडलं मडलार्थिभिः ॥३ [ ]

---

वह ज्ञानी अपनी अनिर्वचनयी आत्मशक्तिको प्रकट करता है जिससे वह मोहको जीतनेवालोकी अग्र पंक्तिको पाता है ॥९०॥

विशेषार्थ--भगवान अर्हन्त देवके अनुपम गुणोका स्तवन भी स्वाध्याय ही है। जो मन-वचन-कायको एकाग्र करके स्तवन करता है वह एक तरहसे अपनी आत्मशक्तिको ही प्रकट करता है। कारण यह है कि स्तवन करनेवालका मन तो भगवनके गुणेमे आसक्त रहता है क्योकि वह जानता है कि शुध्द इ ानधनस्वरू प परमात्माके ये ही गुण है। उसके वचन स्तोत्र पाठमे संलग्न रहते है। जिसमे नयी-नयी

बाते आती है। स्तोत्रं पढते हुए पाठक विनम्रताकी मूर्ति होता है। इस तरह अपने मन-वचन-कायसे वह भगवानका गुणानुवाद करते हुए उने प्रति अपनी असीम श्रद्धा व्यक्त करके अपनेको तन्मय करता है। यह तन्मयता ही उसे मोहविजयी बनाती है क्योंकि शुद्धात्मा के गुणमे जो अनुराग होता है वह सांसारिक रागद्वेषका उन्मूलक होता है ॥१०॥

आगे पंचनमस्कार मन्त्रको परमंगल और उसके जपको उत्कृष्ट स्वाध्याय बतलाते है--

पैतीस अक्षरोके पंचनमस्कारमन्त्रकी वाचनिक या मानसिक जप करने रू प उपासनासे प्राणियोका पूर्वबद्ध तथा आगामी समस्त पाप नष्ट होता है तथा अभ्युदय और कल्याणको करनेवाले पुण्यको लाता है इसलिए यह मंगलोमे उत्कृष्ट मंगल है। तथा उसका जप उत्कृष्ट स्वाध्यायरू प तप है ॥११॥

विशेषार्थ--मंगल शब्दकी निरुक्ति धवलाके प्रारम्भमे इस प्रकार की है--घ्मलं गालयति विनाशयति दहति हन्ति विशेध्यति विध्वंसयतीति मडलम ॥ड [ पु. १, पृ. ३२ ] जो मलका गालन करता है, विनाश करता है, जलाता है, धात करता है, शोधन करता है या विध्वंस करता है उसे मंगल कहते है। कहा है--उपचारसे पापको भी मल कहा है। उसका गालन करता है इसलिए पण्डितजन उसे मंगल कहते है।

दूसरी व्युत्पत्तिके अनुसार मंग शब्दका अर्थ सुख है, उसे जो लावे वह मंगल है। कहा है--यह मंग शब्द पुण्यरू प अर्थका करता है, उसे लाता है इसलिए मंगलके

परार्थ्य--प्रधनम। यथाह--

घसो पचं णमोकारोड इत्यादि। परमपुरु षमन्त्रः--पच्चत्रिदशक्षरोराजितमन्त्रः। मलं गालयति मडं च लाति ददातीति मडलशब्दस्य व्युत्पादनात्। श्रुतपठनतपस्याइस्वाध्यायारभ्यं तपः। अनुत्तरा--परमा। यथाह--

घस्वाध्यायः परमस्तावज्जपः पच्चनमस्कृतेः।

पठनं वा जिनेन्द्रोक्तशास्त्रस्यैकाग्रचेतसा ॥ड [ तत्त्वनु. ८० ] ॥११॥

अथाशीःशान्त्यादिवचनरू पस्यापि मडलस्यार्हदध्याननिष्ठस्य श्रेयस्करत्वं कथयति--

अर्हदध्यानपरस्यार्हनं शं वो दिश्यात् सदास्तु वः।

शान्तिरित्यादिरू पोपि स्वाध्यायः श्रेयसे मतः ॥१२॥

शान्तिः। तल्लक्षणं यथा--

घसुखतध्देतुसंप्राप्तिर्दुःखतध्देतुवारणम।

तध्देतुहेतवश्चान्यदपीदृक शान्तिरिष्यते ॥ड [ ]

इच्छुक सत्पुरुष मंगल कहते हैं। पंचनमस्कार मन्त्रकी वाचनिक या मानसिक जपसे समस्त संचित पापका नाश होता है और आगामी पापका निरोध होता है तथा सांसारिक ऐश्वर्य और मोक्षसुखकी भी प्राप्ति होती है असीलिए इसे मंगलोमे भी परम मंगल कहा है। आप्तपरीक्षाके प्रारम्भे स्वामी विद्यानन्दने रमेष्टीके गुणस्तवनाके परम्परासे मंगल कहा है क्योंकि परमेष्टीके गुणोके स्तवनसे आत्मविशुद्धि होती है। उससे धर्मविशेषकी उत्पत्ति और अधर्मका प्रध्वंस होता है। पंचनमस्कार मन्त्रमे पंचपरमेष्टीको ही नमस्कार किया गया है। उस मन्त्रका जप करनेसे पापका विनाश होता है और पुण्यकी उत्पत्ति होती है। पापका नाश करनेके कारा ही इसे प्रधान मंगल कहा है। कहा है--यह पंचनमस्कार मन्त्र सब पापका नाशक है और सब मंगलोमे प्रथम मंगल है।

इसके साथ नमस्कारमन्त्रका जाप करना स्वाध्याय भी है। कहा भी है--पंचनमस्कार मन्त्रका जप अथवा एकाग्रचित्तसे जिनेन्द्र भगवानके द्वारा प्रतिपादित शास्त्रका पढना परम स्वाध्याय है ॥११॥

आगे कहते हैं कि अर्हन्तके ध्यानमे तत्पर मुमुक्षुका आशीर्वाद रूप और शान्ति आदि रूप मंगल वचन कल्याणकारी होता है--

जो साधु प्रधान रूपसे अर्हन्तके ध्यानमे तत्पर रहता है उसके अर्हन्त तुम्हारा कल्याण करेड या तुम्हे सदा शान्ति प्राप्त हो, इत्यादि रूप भी स्वाध्याय कल्याणकारी मानी गयी है ॥१२॥

विशेषार्थ--भी शब्द बतलाता है कि केवल वाचना आदि रूप स्वाध्याय ही कल्याणकारी नहीं है किन्तु जो साधु निरत्नर अर्हन्तके ध्यानमे जीन रता है उसके आशीर्वाद रूप वचन, शान्तिपरक वचन और जयवादरूप वचन भी स्वाध्याय है। शान्तिका लक्षण इस प्रकार है--सुख और उसके कारणकी सम्यक प्राप्ति तथा दुःख और उसके रणेका निवारा तथा इसी तरह सुखके कारणोके प्राप्ति और दुःखके कारणोके भी कारणोकी निवृत्तिको शान्ति कहते हैं। अर्थात् जन वचनोसे सुख और उसके कारण तथा कारणोके भी

अथ व्युत्सर्ग द्विभेदमुक्त्वा द्विधैवा तद्धावनामाह--

बाहयो भक्तादिरूपधिः क्रोधादिश्चान्तरस्तयोः ।

त्यांग व्युत्सर्गमस्वन्तं मितकालं च भावयेत् ॥१३॥

बाहयः--आत्मनानुपात्तस्तेन सहैकत्वमनापन्न इत्यर्थः । भक्तादिः--आारवत्यादिः । अस्वन्तं-- प्राणान्तं यावज्जीवमित्यर्थः । मितकालं--मुहूर्त्तदिनियतसमयम् ॥१३॥

अथ व्युत्सर्गशब्दार्थ निरुक्त्या व्यनक्ति--

बाहयाभ्यन्तरदोषा ये विविधा बन्धहेतवः ।

यस्तेषामुत्तमः सर्गः स व्युत्सर्गो निरुच्यते ॥१४॥

कारण प्राप्त होते हैं तथा दुःख, उसे कारण और दुःखके कारणोंके भी कारण दूर होते हैं ऐसे शान्तिरूप वचन भी स्वाध्याय रूप हैं ।

तथा जयवादरूप वचन इस प्रकारके होते हैं--घसमस्त सर्वथा एकान्त नीतियोंको जीतनेवाले सत्य वचनोंके स्वामी तथा शाश्वत ज्ञानानन्दमय जिनेश्वर जयवन्त हो ।

पूजनके प्रारम्भमें जो स्वस्तिपाठ पढ़ा जाता है वह स्वस्तिवचन है । जैसे तीनों लोकके गुरु जनश्रेष्ठ कल्याणकारी हो इस तरहके वचनोंके पढ़ना भी स्वाध्याय है । सारांश यह है कि नमस्कार मन्त्रका जाप, स्तुतिपाठ आदि भी स्वाध्यायरूप हैं क्योंकि पाठक मन लगाकर उने द्वारा जिनदेवके गुणोंमें ही अनुरक्त होता है । जिन शास्त्रोंमें तत्त्वविचार या आचारविचार है उनके पठन-पाठन तथा उपदेश तो स्वाध्याय हैं ही । इस प्रकार स्वाध्यायका स्वरूप है ॥१२॥

आगे व्युत्सर्गके दो भेद कहकर दो प्रकारसे उनकी भावना कहते हैं--

व्युत्सर्गके दो भेद हैं--बाह्य और आन्तर । जिसका आत्माके साथ एकत्वरूप सम्बन्ध नहीं है ऐसे आहार, वसति आदिके त्यागको बाह्य व्युत्सर्ग कहते हैं । इस व्युत्सर्गकी भावना भी दो प्रकार है--एक जीवनपर्यन्त, दूसरे नियत काल तक । अर्थात् आहारादिका त्याग जीवनपर्यन्त भी किया जाता है और कुछ समयके लिए भी किया जाता है ॥१३॥

आगे निरूपितके कारण जो विविध बाह्य और अभ्यन्तर दोष हैं उनके उत्कृष्ट सर्गको इत्यागको व्युत्सर्ग कहते हैं ॥१४॥

विशेषार्थ--व्युत्सर्ग शब्द वि+उत्+सर्गके मेलसे बना है । वि का अर्थ होता है विविध, उत्तका उत्कृष्ट और सर्गका अर्थ है त्याग । कर्मबन्धके कारण बाह्य दोष हैं स्त्री-पुत्रादिका सम्बन्ध, और आन्तर कारण है ममत्व भाव आदि । इन विविध दोषोंको उत्तम त्याग अर्थात् जीवनपर्यन्तके लिए लाभ आदिकी अपेक्षासे रहित त्याग व्युत्सर्ग है । कहा

---

घजयन्ति निर्जिताशेष-सर्वथैकान्तनीतयः ।

सत्यवाक्याधिपाः शश्वद वद्यानन्दा जिनेश्वराः ॥६ [ प्रमाणपरीक्षाका मंगल श्लोक ]

घस्वस्ति त्रिलोकगुरवे जनपुडवायड

अशेषमद्वैतमभोग्यं निवृत्तिवृत्त्योः परमार्थकोटयाम ।

अभोग्यभोग्यात्मविकल्पबुद्धया निवृत्तिमभ्यस्यतु मोक्षकाडक्षी ॥ [ आत्मानुशा. २३५ श्लो. ]

अथ व्युत्सर्गस्वामिनमुत्कर्षतो निर्दिशति--

देहाद विविक्तमात्मानं पश्यन् गुप्तित्रयी श्रितः ।

स्वाङ्गोपि निस्पृो योगी व्युत्सर्ग भजते परम ॥१५॥

योगी--सदध्याननिष्ठो यतिः ॥१५॥

अथ प्रकारन्तरेणान्तरडोपिधिव्युत्सर्गमाह--

कायत्यागश्चान्तरडोपिधिव्युत्सर्ग इष्यते ।

स द्वेधा नियतानेहा सार्वकालक इत्यपि ॥१६॥

नियतानेहा--परिमितकालः ॥१६॥

अथ परिमितकालस्य द्वौ भेदावाह--

तत्राप्याद्यः पुनर्द्वेधा नित्यो नैमित्तिकस्तथा ।

आवश्यकदिको नित्यः पर्वकृत्यादिकः परः ॥१७॥

आवश्यकदिकः--आदिशब्दात् मलोत्सर्गाद्याश्रयः । पर्वकृत्यादिकः--पार्वणक्रियानिष्ठापुरःसरः

॥१७॥

---

है--घ्यह समस्त संसार एकरूप है । किन्तु निवृत्तिका परम प्रकर्ष होनेपर समस्त जगत अभोग्य ही प्रतीत होता है । और प्रवृत्तिका परम प्रकर्ष होनेपर समस्त जगत भोग्य ही प्रतीत होता है । अतः यदि आप मोक्षके अभिलाषी है तो जगतके सम्बन्धमे यह अभोग्य है और यह विकल्प बुद्धिकी निवृत्तिका अभ्यास करे ॥१४॥

उत्कृष्ट व्युत्सर्गके स्वामीको बतलाते है--

जो अपने आत्माको शरीरसे भिन्न अनुभूव करता है, तीनों गुप्तियोंका पालन करता है और बाह्य अर्थकी तो बात ही क्या, अपने शरीरमे भी निस्पृह है वह सम्यकध्यानमे लीन योगी उत्कृष्ट व्युत्सर्गका धारक और पालक है ॥१५॥

उन्तरंग व्युत्सर्गका स्वरूप प्रकारान्तरसे कहते है--

पूर्व आचार्य कायके त्यागो भी अन्तरंग परिग्रहका त्याग मानते है । वह कायत्याग दो प्रकारका है--  
-एक नियतकाल और दूसरा सार्वकालिक ॥१६॥

नियतकाल कायत्यागके दो भेद बतलाते है--

नियतकाल और सार्वकालिक कायत्यागमे से नितकाल कायत्यागके दो भेद है--एक नित्य और दूसरा नैमित्तिक । आवश्यक करते समय या मलत्याग आदि करते समय जो कायत्याग है वह नित्य है । और अष्टमी, चतुर्दशी आदि पवोमे क्रियाकर्म करते समय या बैठने आदिकी क्रियाके समय जो कायत्याग किया जाता है वह नैमित्तिक है ॥१७॥

विशेषार्थ--कायत्यागका मतलब है शरीरसे ममत्वका त्याग । प्रतिदिनल साधुको जो छह आवश्यक कर्म करने होते है उस कालमे साधु शरीरसे ममत्वका त्याग करता है, यह उसका नित्य कर्तव्य है । अतः यह नित्य कायत्याग है । और पर्व आदिमे जो धार्मिक कृत्य करते समय कायत्याग किया जाता है वह नैमित्तिक कायत्याग है ॥९७॥

---

१. घ्युत्सर्जन व्युत्सर्गस्त्यागः । सद्विधः--बाहयोपधित्यागोभ्यन्तरोपधित्यागश्चेति । अनुपात्तं वास्तुधनधान्यादि बाहयोपधि । क्रोधादिरात्मभावोभ्यन्तरोपधिः । कायत्यागश्च नियतकालो यावज्जीवं वाभ्यन्त रोपधित्याग इत्युच्यते ॥--सर्वार्थसि., ९।२६ ।

अथ प्राणान्तिककायत्यागस्य त्रैविध्यमाह--

भक्तत्यागेडिगनीप्रायोपयानमरणैस्त्रिधा ।

यावज्जीव तनुत्यागस्तत्राधोर्हादिभावभाक ॥९८॥

इडिनीमरणं--स्ववैयावृत्यसापेक्षपरवैयावृत्यनरपेक्षम । प्रायोपयान--स्वपरवैयावृत्यनिरपेक्षम । प्रायोपगमनमरणमित्यर्थः । अर्हादिभावाः । तद्यथा--

अरिहे लंगे सिक्ख्या विणयसमाही य अणियदविहारे ।

परिणामोवधिजहणा सिदी य तह भावणाओ य ॥

सल्लेहणा दिसा खमणा य अणुसिटिट परगणे चरिया ।

मग्गण सुटिटद उपसंपया य परिछा य पडिलेहा ॥

आपुच्छा य पडिच्छणमेगस्सालोयणा य गुणदोसा ।

सेज्जा संथारो वि य णिज्जवगपयासण हाणी ॥

पच्चक्खाणं खामण खमणं अणुसिटिट सारणाकवचे ।

समदाज्झाणे लेस्सा फल विजहणा य णेयाइं ॥ड [ भ. आरा., गा. ६७-७० ]

अरिहे--अर्हः सविचारप्रत्याख्यानस्य योग्यः । लिंगे--चिह्नम् । शिक्षाश्रुताध्ययनम् । विणय--विनयो मर्यादा ज्ञानादिभवानव्यस्था हि ज्ञानादिविनयतया प्रागुक्ता । उपास्तिर्वा विनयः । समाहीइ समाधानं शुभौपयोगे शुद्धोपयोगे वा मनस एकताकरणम् । अणियदविहारो--अनियतक्षेत्रावासः । परिणामोइस्वकार्यपर्यालोचनम् । उवधिजहणा--परिग्रहपरित्यगः । सिदी--आरोहणम् । भावणा--अभ्यासः । सल्लेहणा--कायस्य कषायाणां च सम्यककृतीकरणम् । दिसा--एलाचार्यः । खामणा--पर-

---

प्राणोके छूटने तक किये गये कायत्यागके तीन भेद कहते है--



जीवन पर्यन्त अर्थात् सार्वकालिक कायत्यागके तीन भेद हैं--भक्त प्रत्याख्यान मरण, इंगिनीमरण, प्रायोपगमन मरण । इन तीनोंमें से प्रथम भक्त प्रत्याख्यानमरणमें अर्हत लिंग आदि भाव हुआ करते हैं ॥९८॥

विशेषार्थ--जिसमें भोजनके त्यागकी प्रधानता होती है उसे भक्त प्रत्याख्यान मरण कहते हैं । जिसमें साधु अपनी सेवा स्वयं तो करता है किन्तु दूसरेसे सेवा नहीं कराता उस संन्यासमरणको इंगिनीमरण कहते हैं । इस संन्यास मरण करनेवाले साधु मौन रहते हैं । रोगादिककी पीडा होनेपर प्रतीकार नहीं करते । न भूख-प्यास, शीत-उष्ण आदि की ही वेदना का प्रतीकार करते हैं । [ भगवती आरा., गा. २०६१ पर्यन्त ] । प्रायोपगमन करनेवाले मुनि न तो स्वयं ही अपनी सेवा करते हैं और न दूसरोको ही करने देते हैं । भक्त प्रत्याख्यानमें स्वयं भी अपनी सेवा कर सकते हैं और दूसरोसे भी करा सकते हैं । किन्तु प्रत्याख्यानमें स्वयं भी अपनी सेवा कर सकते हैं और दूसरोसे भी करा सकते हैं । किन्तु प्रायोपगमनमें नहीं । जिनका शरीर सूखकर हाडचाम मात्र रह जाता है वे ही मुनि प्रायोपगमन संन्यास धारण करते हैं, अतः मल, मूत्र आदिका त्याग न स्वयं करते हैं और न दूसरेसे कराते हैं । यदि कोई उन्हें सचित्त पृथ्वी जल आदिमें फेंक दे तो आयु पूर्ण होने तक वहाँ ही निश्चल पड़े रहते हैं । यदि कोई उनका अभिषेक करे य पूज करे तो उसे न रोकते हैं, न उसपर प्रसन्न होत है और न नाराज होते हैं । समस्त पण्डितोंको त्यागकर चारों प्रकारे आहारके त्यागको पाय कहते हैं । जैसे मरणम प्रायका उपगमन अर्थात् स्वीकार हो उसे प्रायोपगमन कहते हैं । इसे पादोपगमन भी कहते हैं । क्योंकि इस संन्यासका इच्छुक मनि संघसे निकलकर अपने पैरोसे योग्य देशमें जाता है । इसको प्रायोपवेशन भी कहते हैं क्योंकि इसमें

क्षमापणा । अणुसिट्टीइसूत्रानुसारेण शिक्षादानम् । परगणे चरिया--अन्यस्मिन् संघे गमनम् । मग्गणा--  
आत्मनो रत्नत्रयशुद्धि समाधिमरणं च संपादयितुं समर्थस्य सूरेन्वेषणम् । सुट्टिदा--सुसिथित आचार्यः  
परोपकारकरणे स्वप्रयोजने च सम्यक्स्थितत्वात् । उपसंपया--उपसंपत् आचार्यस्यात्मसमर्पणम् ।  
परिच्छा--परीक्षा गणपरिचारिकादिगोचरा । पडिलेहणा--आराधनानिर्विघ्नसिद्धयर्थ  
देशराज्यदिकल्याणगवेषणम् । आपुच्छा--किमयमस्माभरनुगृहीतव्यो न वेति संघं प्रति प्रश्नः ।  
पडच्छणमेगस्स--संधानुमतेनैकस्य क्षपकस्य स्वीकारः । आलोयणा--गुरोः स्वदोषनिवदनम् । गुणदोसा--  
गुणा दोषाश्च प्रत्यासत्तेरालोचनाया एव । सेज्जा--शय्या वसतिरित्यर्थः । संथारोइसंस्तरः । णिज्जवगा-  
-निर्यापकाः आराधकस्य समाधिसहायाः । पगासणाइचरमाहारप्रकटनम् । हाणी--क्रमेणाहरत्यागः ।  
पच्चक्खाणं--त्रिविधाहरत्यागः ।

---

मुनि समस्त परिग्रहके त्यागपूर्वक चतुर्विध आहारके त्यागरूप प्रायके साथ प्रविष्ट होता है । महापुराणमें वज्रनाभि मुनिराजके समाधिमरणका चित्रण करते हुए कहा है--आयुके अन्त समयमें बुद्धिमान वज्रनाभिने श्रीप्रभ नामके ऊँचे पर्वतपर प्रायोपवेशन संन्यास धारण करके शरीर और आहारको छोड़ दिया । यतः इस संन्यासमें तपस्वी साधु रत्नत्रयरूपी शय्यापर बैठता है इसलिए इसको प्रायोपवेशन कहते हैं इस तरह यह नाम सार्थक है । इस संन्यासमें अधिकतर रत्नत्रयकी प्राप्ति होती है इसलिए इसको प्रायोपगम भी

कहते हैं। अथवा इस सन्यासमे पाप कर्म समूहका अधितकर अपगम अर्थात् नाश होता है इसलिए इसे प्रायोपगम कहते हैं। इसके जानकार मुनिश्रेष्ठोंने इसके प्रायोपगमन नामकी निरुक्त इस प्रकार भी की है कि प्रायः करके इस सन्यासमे मुनि नगर ग्राम आदिसे हटकर अटवीमे चले जाते हैं। इस तरह इसके नामकी निरुक्तियाँ हैं। इन तीनों मरणोमे-से भक्त प्रत्याख्यान मरणकी कुछ विशेषताएँ इस प्रकार कही हैं--अर्हका अर्थ योग्य है। यह क्षपक सविचार प्रत्याख्यानके योग्य है या नहीं, यह पहला अधिकार है। लिंग चिह्नको कहते हैं अर्थात् सम्पूर्णपरिग्रहके त्यागपूर्वक मुनि जो नग्नता धरण करते हैं वह लिंग है। भक्त प्रत्याख्यानमे भी वही लिंग रहता है। उसीका विचार इसमे किया जाता है। शिक्षासे ज्ञानादि भावना या श्रुताभ्यास लेना चाहिए। पहले कहा है कि स्वाध्यायके समान तप नहीं है। अतः लिंग ग्रहणके अनन्तर ज्ञानार्जन करना चाहिए और ज्ञानार्जनके साथ विनय होनी चाहिए। विनयके साथ समाधि-सम्यक आराधना अर्थात् अशुभोपयोगसे निवृत्ति और शुभोपयोगमे मनके लगावे। इस प्रकार जो समाधि मरणके योग्य है, जिसने मुक्तिके उपायभूत लिंगको धारण किया है, शास्त्र स्वाध्यायमे तत्पर है, विनयी है और मनको वशमे रखता है उस मुनिको अनियत क्षेत्रमे निवास करना चाहिए। अनियत विहारक गुण भंगवती आराधना

१. ततः कालात्यगये धीमान श्रीप्रभ्राद्रौ समुन्नते ।  
 प्रयोपवेशनं कृत्वा शरीराहरमत्यजत ॥  
 रत्नत्रयमी शय्यामधिशय्य तपोनिधिः ।  
 प्रायेणेपविशत्यस्मिन्नित्यन्वर्थमाशिषत ॥  
 प्रायेणेपगमो यस्मिन् नत्नत्रितयगोचरः ।  
 प्रायेणपगमो यस्मिन् दुरितारि कदम्बकान ॥  
 प्रायेणास्माज्जनस्थानादुपसृत्य गनोटवेः ।  
 प्रयोपगमनं तज्ज्ञैः निरुक्तं श्रमणेत्तमैः ॥--म. पु., ११।१४-१७ ।

खामणं--आचार्यादीना क्षमाग्राहणम । खमणंइस्वस्यान्यकृतापराधक्षमा । अणुसटिट--  
 निर्यापकाचार्येणाराधकस्य शिक्षणम । सारणा--दुःखभिभवान्मोहमुगतस्य चेतना प्रापणा । कवचे--  
 धर्माद्युपदेशेन दुःखनिवारणम समदा--जीवितमरणदिषु रागद्वेषयोरकणम । ज्ञाणे--एकाग्रचिन्तानिरोधः ।  
 लेस्सा--कषायानुरजिता योगप्रवृत्तिः । फलं--आराधनासाध्यम । विजहणा--आराधकशरीरत्यागः ॥१८॥

अथात्रत्येदानीतनसाधुवृन्दारकानात्मनः प्रशममर्थयते--

गा. १४३ आदिमे बतलाये है। इसके बाद परिणाम है। अपने कार्यकी आलोचनाको परिणाम कहते हैं। मैंने स्वपरोपकारमे काल बिताया अब आत्माकेही कल्याणमे मुझे लगना चाहिए इस प्रकारकी चित्तवृत्तिको परिणाम कहते हैं। इस प्रकार समाधिमरणका निर्णय करनपर क्षपक एक पीछी, एक कमण्डलुके सिवाय शेष परिग्रहका त्याग करता है। उसके बाद श्रिति अधिकार आता है। श्रितिका मतलब है उत्तरोत्तर इ

ानादिक गुणोपर आरोहण करना । इसके बाद बुरी भांवनपाओको छोडकर पॉच शुभभावनाओको भांता है । तब सम्यक रू पसे काय और कषयको कृश करके सल्लेखना करता है । और अपने संधका भांर योग्य शिष्यको सौपता है । यह दिक है । उसके बाद संधसे क्षमा-याचना करता है । फिर सांको आगमानुसार उसके कर्तव्यका उपदेश देता है । भगवती आराधनामे यह उपदेश विस्तारसे दर्शया है । इसक पश्चात क्षपक अपने संधसे आज्ञा लेकर समाधिक लए परगणमे प्रवेश करे है क्योकि स्वगणमे रहनेसे अनेक दाषेकी सम्भावना रहती है । ( गा४०० ) । इसके पश्चात वह निर्यापकाचर्यकी खोजमे सैकडो योजन तक विहार करते है । इस प्रकर गुरु की खोजमे आये क्षपकको देखकर परगणके मनि उसके साथ क्या कैसा बरताव कते है उसका वर्णान अत है । इस सबको मार्गणा कहते है अर्थात गुरकी खोज । परोपकार करनेमे तत्पर सुस्थित आर्चायकी प्राप्ति, आचार्यके आत्मसमर्पण, आचार्य द्वारा क्षपककी परीक्षा, आराधनाके लिए उत्तम दो अदिक खोज । तब आचार्य संधसे पूछते है कि हमे इस क्षपकरपर अनुग्रह करना चाहिए या नही ? पुनः संधसे पूछकर आचार्य क्षपकको स्वीकार करते है, तब क्षपक आचार्य के सम्मुख अपने दोषोकी आलोचना करता है । आलोचना गुण-दोष दोनोकी की जाती है । तब समाधिमरण साधनेके योग्य वसतिका, और उसमे आराधकके योग्य शय्या दी जाती है । तब आराधककी समाधिमे सहायक वर्गका चुनाव होता है, उसके बाद आराधकके सामने योग्य विचित्र आहार प्रकट किये जाते है कि उसकी किसी आहारमे आसक्ति न रहे । तब क्रमसे आहारका त्याग कराया जाता है । इस तरह वह आहारक त्याग करत है । तब आचार्य आदि क्षमा-प्रार्थना करते है और क्षपक भी अपने अपराधेक क्षमा माँगता है । तब आचार्य आदि क्षमा-प्रार्थना करते है और क्षपक भी अपने अपराधोक क्षमा माँगता है । तब निर्यपकचार्य आराधकको उपदेश करते है । यदि व दुःखसे अभिभूत होकर मूर्च्छित है । तब निर्यापकाचर्य अराधकका उपदेश करते है । यदि व दुःखसे अभिभूत होकर मूर्च्छित हो जाता है तो उसे होशमे लाते है, और धर्मोपदेशकेद्वारा दुःखका निवारण करते है । तब वह समता भांव धारण करके ध्यान करता है । लेश्यविशद्धिके साथ आराधक शरीरका त्यागता है । इस तरह भक्त प्रत्याख्यान मरणका चलीस अधिकारोकेद्वारा कथन भगवती आराधना मे किया है ॥९८॥

वर्तमान क्षेत्र और कालवर्ती साधुश्रेष्ठोस अपनी आत्मामे प्रशमभांवकी प्राप्ति की प्रार्थना करते है-

भक्तत्यागविधेः सिसाधयिषया येर्हाद्यवस्थांः क्रमा-

च्चत्वारिशतमन्हवं निजबलादाराढुमुद्युज्जते ।

चेष्टाजल्पनचिन्तनच्युतचिदानन्दामृतस्त्रातस

स्नान्तः सन्तु शमाय तेद्य यमिनामत्राग्रगण्या मम ॥९९॥

क्रमात--एतेन दीक्षाशिक्षागणपोषणमात्मसंस्काः सल्लेखना उत्तमार्थश्चेति षोढाकालक्रमं लक्षयति ।

आरोढं--प्रकर्ष प्रापयितुम । उद्युज्जन्ते--उत्सहन्ते ॥९९॥

अथ कान्दर्पादिसक्लिष्टभावनापरिहारेणत्मसंस्करकाले तपःश्रुतसत्त्वैकत्वधृतिभावनाप्रयुज्जानस्य पीरषहविजयमुपदिशति--

कान्दर्पीप्रमुखाः कुदेवगतिदाः पच्चापि दुर्भावना-  
स्त्यक्त्वा दान्तजमनास्तपःश्रुतसदाभ्यासादिविभ्यद भृशम् ।  
भीष्मेभ्यापि समिधदसाहसरसो भूयस्तरां भावय-  
न्नेकत्वं न परीषहैर्धृतिसुधास्वादे रतस्तप्यते ॥१००॥

कुदेवगतिदाः--भ्रण्डतौरिककाहारशैनिकककुरपायदेवदुर्गतिप्रदाः । पच्चापि । तथा चोक्तम्--

घकान्दर्पी कैल्विषी चैव भ्रावना चाभियोगजा ।  
दानवी चापि सम्मोहा त्याज्या पच्चतयी च सा ॥  
कान्दर्प कौत्कुच्यं बिहेडनं हासनर्मणी विदधत ।  
परविस्मरयं च सततं कान्दर्पी भावनां भजते ॥  
केवल्लिधर्माचार्यश्रुतसाधूनामवर्णवादपरः ।  
मायावी च तपस्वी कैल्विषकी भावना कुरु तेः ॥  
मन्त्राभ्योगकौतुमक-भूतम्रीडादिकर्मकुवाणः ।  
सातरसध्दिनिमित्तादभ्योगा भ्रावनां भजते ॥

---

जीवनपर्यन्त व्रतधारी संयमी जनोमे अग्रेसर जो साधु आज भी इस भरतक्षेत्रत्रमे भक्त प्रतयाख्यानकी विधिको साधनेकी इच्छासे क्रमसे प्रतिदिन अपनी सामर्थ्यसे अर्हलिंग आदि चालीस अवस्थाओकी चरम सीमाको प्राप्त करनेके लिए उत्साह करते हैं और मन-वचन-कायकी चेष्टासे रहित इतानानन्दमय अमृतके प्रवाहमे अवगाहन करके शुद्धिको प्राप्त करते हैं वे मेरे प्रशमेके लिए होवे अर्थात् उनके प्रसादसे मुझे प्रशम भ्रावकी प्राप्ति हो ॥९९॥

जो साधु आत्मसंस्कारके समय कान्दर्प आदि संक्लिष्ट भ्रावनाओके छोडकर तप, श्रुत, एकत्व और धृति भ्रावनाको अपनाता है वह परीषहोको जीतता है ऐसा उपदेश करते हैं--

कुदेव आदि दुर्गतिको देनेवाली कान्दर्पी आदि पाँच दुर्भावनाओको छोडकर, तप और श्रुतकी नित्य भ्रावनासे मनका दमन करके जिसका साहसिक भाव निरन्तर जाग्रत रहात है, अतः जो भयानक बैताल आदिसे भी अत्यन्त निडर रहता है, और बारम्बार एकत्व भ्रावना भ्राता हुआ धैर्यरू पी अमृतके आस्वादमे लीन रहता है वह तपस्वी भूख-प्यास आदि परीषहोसे सन्तप्त नहीं होता ॥१००॥

विशेषार्थ--इन भ्रावनाओका स्वरूप यहाँ भगवती आराधनासे दिया जाता है अर्थात् संक्लेश भ्रावना पाँच हैं--कान्दर्पभ्रावना, किल्विष भावना, अभियोग्यभ्रावना, असुरभ्रावना, सम्मोहभावना । रागकी उत्कटतासे हास्यमिश्रित अशिष्ट वचन बोलना कान्दर्प है । रागकी

अनुबध्दरोगविग्रहसंस्क्ततया निमित्तसंसेवी ।  
निष्करु णो निरनुशयो दानवभ्राव मुनिर्धत्ते ॥  
सन्मार्गप्रतिकूलो दुर्मार्गप्रकटने पञ्चप्रज्ञः ।

मोहेन मोहयन्नपि सम्मोहां भावना श्रयति ॥  
आभिश्च भावनाभिर्विराधको देवदुर्गति लभते ।  
तस्याः प्रच्युतमात्रः संसारमहोदधि भ्रमति<sup>६</sup> [                      ]

तप इत्यादि । उक्तं च--

तपसः श्रुतस्य सत्वस्य भावनैकत्वभावना चैव ।  
धृतिबलविभ्रानापि च सैषा श्रेष्ठापि पञ्चविध ॥  
दान्तानि (-दि) सुभ्रानया तपसस्तस्येन्द्रियाणि यान्ति वशम ।  
इन्द्रिययोग्यं च मनः समाधिहेतु समाचरित ॥ [                      ]

इन्द्रियोग्यमिति इन्द्रियवश्यता परिकर्म ।

ध्रुतभावनया सिद्धयन्ति बोधचारित्रदर्शनतपासिं ।  
प्रकृता सन्धा तस्मात्सुखमव्यथितः समापयति ॥  
रात्रौ दिवा च देवैर्विभीष्यमाणे भयानकैरु पैः ।  
साहसिकभावरसिको वहति धुरं निर्भयः सकलाम ॥

---

अतिशयतासे हँसते हुए दूसरोको उद्येश्य करके अशिष्ट कायप्रयोग करना कौत्कुच्य है । इन दोनोका पुनःपुनः करना चलशील है । नित्य हास्यकथा कहनेमे लगना, इन्द्रजाल आदिसे दूसरोको आश्चर्यमे डालना, इसत रह रागके उद्रकसे हासपूर्वक वचनयोग और काययोग आदि करना कन्दर्पी भावना है । श्रुतज्ञान, कवली, धर्माचार्य, साधुका अवर्णवाद करनेवाला मायावी किल्बिषा भावनाको करता है । द्रव्यलाभके लिए, मिष्ट आहारकी प्राप्तिके लिए या सुखके लए किसीके शरीरमे भूतका प्रवेश कराना, वशीकरण मन्त्रका प्रयोग करना, कौतुक प्रदर्शन करना, बालक आदिकी रक्षाके लिए झाडना-फूंकना ये सब अभियोग्य भावना है । जिसका तप सतत क्रोध और कलहको लिये हुए होता है, जो प्राणियोके प्रति निर्दय है, दूसरोको कष्ट देकर भी जिसे पश्चात्तपाप नही होता वह आसुरी भावनाको करता है । जो कमागर्का उपदेशक है, सन्मार्गमे दूषण लगाता है, रत्नत्र्यरु प मार्गका विरोधी है, मोहमे पडता है वह सम्मोह भावनाका कर्ता है । इन भावनाओसे देवोमे जो कुदेव है उनमे उत्पन्न होता है और वहाँसे च्युत होकर अनन्त संसारमे भ्रमण करता है ।

संक्लेश रहित भावना भी पाँच है--तपभ्रानाज्ञतपका आयास, श्रुतभावना--ज्ञानका अभ्यास, सत्त्वभ्राना अर्थात् भ्रंय नही करना, एकत्व भावना और धृतिबल भावना । तप भावनासे पाँचो इन्द्रियो दमित होकर वशमे होती है और उससे समाधिमे मन रमता है । किन्तु जो साधु इन्द्रियसुखमे आसक्त होता है वह धोर परीषहोसे डरकर आराधनाके समय विमुख हो जाता है । श्रुतभावनासे ज्ञान, दर्शन, तप और संयमसे युक्त होता है । मै अपनेको ज्ञान, दर्शन, तप और संयममे प्रवृत्त करूँ इस प्रकारकी प्रतिज्ञ

॥ करके उसको सुखपूर्वक पूर्ण करता है । नवचनमे श्रद्धाभक्ति होनेसे भूख-प्यास आदिकी परीषह उसे मार्गसे च्युत नहीं करती । सत्त्वभावनासे देवोकेद्वारा पीडित किये जानेपर और भयभीत किये जानेपर भी वह निर्भय रहता है । जो डरता है वह मार्गसे च्युत हो जाता है

एकत्वभांवरसिको न कामभोग गणे शरीरे वा ।  
सजति हि विरागयोगी स्पृशति सदानुत्तरं धर्मम ॥  
सकलपरीषहपृतनामागच्छन्ती सहोपसर्गोर्धः ।  
दुर्धरपथकरवेगा भयजननीमल्पसत्त्वानाम ॥  
धृतिनिबिडबद्धकक्षो विनिहन्ति निराकुलो मुनिः सहसा ।  
धृतिभावनया शूरः संपूर्णमनोरथो भवति [ ] ॥१००॥

अथ भक्तप्रत्याख्यानस्य लक्षणं सल्लेखनयाः प्रभृत्युत्कर्षतो जधन्यतश्च कालमुपदिशति--

यस्मिन् समाधये स्वान्यवैयावृतयमपेक्षते ।  
तदद्वादशब्दानीषेनतर्मुहूर्त चाशनोज्झनम ॥१०१॥

अब्दातइसंवत्सरात् । इषे--इष्टं पूर्वमाचार्यैरिति शेषः । अशनोज्झर्न--भक्तप्रत्याख्यानमरणम  
॥१०१॥

अथ व्युत्सर्गतपसः फलमाह--

नैःसडयं जीविताशान्तो निर्भय दोषविच्छिदा ।  
स्याद व्युत्सर्गाच्छिवोपायभांवनापरतादि च ॥१०२॥

निर्भय--भयाभवः ॥१०२॥

अथ दुर्ध्यानविधानपरुस्सरं सध्दयानविधानमभिधाय तेन विना केवलक्रिया मुक्त्यभावं भावयन्नाह--

---

अतः वह भयको अनर्थका मूल मानकर उसे भगाता है । जैसे युद्धोका आयासी वीर पुरु ष युद्धसे नहीं डरता वैसे ही सत्त्वभावनाका अभ्यासी मुनि उपसर्गोसे नहीं धबराता । मैं एकाकी हूँ, न कोई मेरा न मैं किसीका हूँ इस भावनाको एकत्वभांवना कहते हैं । इसके अभ्याससे कामभोगम, शिष्यादि वर्गमे और शरीर आदिमे आसक्ति नहीं होती । और विरक्त होकर उत्कृष्ट चारित्रको धारण करता है । पाँचवी धृतिबल भावना है । कष्ट पडनेपर भी धैर्यको न छोडना धृतिबल भावना है जो उसकेआयाससे ही सम्भव है । इन पाँच शुद्ध भांवनाओके अभ्याससे मुनिवर आत्मशुद्धि करके रत्नत्रयमे निरतिचार प्रवृत्ति करते हैं  
॥१००॥

आगे भक्तप्रत्याख्यानका लक्षण और सल्लेखनासे लेकर उसका जघन्य और उत्कृष्ट काल कहते हैं--

समाधिके इच्छुक मुनि जिसमे समाधिके लिए अपना वैयावृत्य स्वयं भी करते हैं और दूसरोसे भी करा सकते हैं उस भक्तप्रत्याख्यानका उत्कृष्ट काल बाहर वर्ष और जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त पूर्वाचार्योने माना है ॥१०१॥

आगे व्युत्सर्ग तपका फल कहते हैं--

व्युत्सर्ग तपसे परिग्रहोका त्याग हो जानेसे निर्ग्रन्थताकी सिद्धि होती है, जीवनकी आशाका अन्त होता है, निर्भयता आती है, रागादि दोष नष्ट होते हैं और रत्नत्रयके अभ्यासमे तत्परता आती है ॥१०२॥

आगे खोटे ध्यानोका कथन करनेके साथ सम्यक ध्यानोका स्वरूप कहकर उसके बिना केवल क्रियाकाण्डमे लगे हुए साधुको मुक्तिकी प्राप्ति नहीं होती, ऐसा कथन करते हैं--

आर्त रौद्रमिति द्वयं कुगतिदं त्युत्वा चतुर्धा पृथग

धर्म्य शुक्लमिति द्वयं सुगतिदं ध्यानं जुषस्वानिशम ।

नो चेत क्लेशनृशंसकीर्णजनुरावर्ते भवाब्धौ भ्रमन

साधो सिद्धिदधूं विधास्यसि मुधेत्कण्टामकुण्ठश्चिरम ॥१०३॥

कुगतिदं--तिर्यगनारककुदेवकुमानुषत्वप्रदम । चतुर्धा--आज्ञापायविपाक(-संस्थान-  
)विचनविकल्पाच्चतुर्विधं धर्म्यम । पृथक्त्ववितर्कवीरचारमेकत्ववितर्कवीचारं सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति-  
व्युपरतक्रियानिवर्ति चेति शुक्लमपि चतुर्विधम । एवमार्तरौद्रयोरपि चातुर्विध्यं प्रत्येकमागमादधिगन्तव्यम ।  
सुगतिदं--सुदेवत्वसुमानुषत्वमुक्तिप्रदम । जुषस्व । नृशंसाः--क्रूरकर्मकृतो मकराकदलचराः । अकुण्ठः--  
श्रेयोर्यक्रियासूद्यतः । तथं चोक्तम--

घसपयत्थं तित्थयरमधिगदबद्धिदस्स सुत्तरोईस्स ।

दूरतरं णिव्वाणं संजमतवसंपुजुत्तस्स<sup>१</sup> [ पच्चस्ति., गा. १७० ] ॥१०३॥

---

चार प्रकारका आर्तध्यान और चार प्रकारका रौद्रध्यान, ये दोनो ही ध्यान कुगतिमे ले जानेवाले हैं इसलिए इन्हे छोड, और चार प्रकारका धर्मध्यान और चार प्रकारका शुक्लध्यान ये दोनो सुगतिके दाता हैं अतः सदा इनकी प्रीतिपूर्वक आराधना करो । यदि ऐसा नहीं करेंगे तो हे साधु ! कल्याणकारी क्रियाओमे तत्पर होते हुए क्लेशरूपी क्रूर जलचरोसे भरे हुए जन्मरूपी भँवरोसे व्याप्त संसारसमुद्रमे चिरकाल तक भ्रमण करते हुए उत्कण्ठित भी मुक्तिरूपी वधूकी उत्कण्ठाको विफल कर दोगे ॥१०३॥

विशेषार्थ--ध्यानके चार भेद हैं--आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान । इनमे-से प्रारम्भके दो ध्यान नारक, तिर्यच, कुदेव और कुमनुष्योमे उत्पन्न कराते हैं और शेष दो ध्यान सुदेव, सुमनुष्य और मुक्ति प्रदान करते हैं । प्रत्येक ध्यानके चार भेद हैं । अनिष्टका संयोग होनेपर उससे छुटकारा पानेके लिए जो रात-दिन चिन्तन किया जाता है वह अनिष्टसंयोजग नामक प्रथम आर्तध्यान है ।

इष्टका वियोग होनेपर उसकी पुनः प्राप्तिके लिए जो सतत चिन्तन किया जाता है वह इष्ट वियोगज नामक दूसरा आर्तध्यान है। कोई पीडा होनेपर उसको दूर करनेके लिए जो सतत चिन्तन होता है वह वेदना नामक तीसरा आर्तध्यान है। और आगामी भोगोकी प्राप्तिके लिए जो चिन्त किया जाता है वह निदान नामक चतुर्थ आर्तध्यान है। इसी तरह हिंसा, झूठ, चोरी और परिग्रहके संरक्षणके चिन्तनमे जो आनन्दानुभूति होती है वह हिंसानन्दी, असत्यानन्दी, चौर्यानन्दी और परिग्रहानन्दी नामक चार रौद्रध्यान है। धर्मध्यानक भी चार भेद है, आज्ञा विचनय, अपायविचय, विपाक विचय और संस्थान विचय। अच्छे उपदेष्टाके न होनेसे, अपनी बुद्धि मन्द होनेसे और पदार्थके सूक्ष्म होनेस जब युक्ति और उदाहरणकी गति न हो तो ऐसी अवस्थांमे सर्वज्ञ देवे द्वारा कहे गये आगमको प्रमाण मानकर गहन पदार्थका श्रद्धान करना की यह ऐसा ही है आज्ञाविचय है। अथवा स्वयं तत्त्वोका जानकार होते हुए भी दूसराको उन तत्त्वोका समझानेके लिए युक्ति दृष्टान्त आदिका विचार करते रहना, जिससे दूसरोके ठीक-ठीक समझाय जा सके आज्ञाविचय है, क्योंकि उसका उद्येश्य संसारमे जिनेन्द्र देवकी आज्ञाका प्रचार करना है। जो लोग मोक्षके अभिलाषी होते हुए भी कुमार्गमे पडे हुए है उनका विचार करते रहना कि वे कैसे मिथ्यात्वसे छूटे, इसे अपायविचय कहते है। कर्मके फलका विचार करना वपाक विचय है। लोकके आकारका तथा उसकी दशाका विचार करना संस्थान विचय है। इसी तरह शुक्लध्यानके भी चार भेद है--पृथक्त्ववितर्क वीचार, एकत्व वितर्क

अथ तपस उद्योतनाराधनाच्चकंप्रपच्यंस्तत्फलमाह--

यस्त्यक्त्वा विषयाभिलाषमभितो हिंसामपास्यंस्तप-

स्यागूर्णो विशदे तदेकपरतां विभ्रतदेवोदगतिम।

नीत्वा तत्प्रणिधानजातपरमानन्दो विमुच्यसून

स स्नात्वामरमर्त्यशर्मलहरीष्वीर्ते परां निर्वृतिम ॥१०४॥

अपास्यन--उद्योतनोक्तिरियम। आगूर्णः--उद्यतः। उदद्यवनोपदेशोश्यम। विभ्रत--  
निर्वहणभणितिरियम। नीत्वा--साधनाभिधानमिदम। विमुच्यति--विधिना त्यजति। निस्तरणनिरु पणयम  
। लहरी--परम्परेति भद्रम ॥१०४॥

इत्याशाधरदृब्धायां धर्ममृतपच्चिकायां ज्ञानदीपिकापरसंज्ञायां सप्तमोध्यायः।

अन्नाध्याये ग्रन्थप्रमाणं पष्ठधिकानि चत्वारिशतानि अंकतः ४६०।

अवीचार, सूक्ष्मक्रियाअपतिपाति और व्युपरत क्रिया निवर्ति। मुमुक्षुको आर्त और रौद्रको छोडकर,  
धर्मध्यान और शुक्लध्यानका ही प्रीतिपूर्वक आलम्बन लेना चाहिए। इन्हीसे सुगतिकी प्राप्ति होती है।  
जो मुमुक्षु समीचीन ध्यान न करके शुभ कर्मोमे ही लगे रहते है, उनकी ओर उत्कण्ठा रखनेवाली भी



मुक्तिरूपी वधू चिरकाल तक भी उन्हें प्राप्त नहीं होती, क्योंकि वह तो एक मात्र आत्मध्यानसे ही प्राप्त होती है।

पंचास्तिकायमे कहा भी है--जो जीव वास्तवमे मोक्षके लिए उद्यत हाते हुए तथा संयम और तपके अचिन्त्य भ्रंशको उठाते हुए भी परमवैराग्यकी भूमिका पर आरोहण करनेमे असमर्थ होता हुआ नौ पदार्थों और अरहन्त आदिमे रू चिरु प परसमय प्रवृत्तिको त्यागनेमे असमर्थ होता है उसे साक्षात् मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती ॥१०३॥

आगे तपके विषयमे उद्योतन आदि पाँच आराधनाओका कथन करते हुए उसका फल कहते हैं--

इन्द्रियोके विषयकी अभिलाषा छोडकर तथा द्रव्यहिंसा और भावहिंसाका भी सर्वथा परित्याग करके जो साधु निर्मल तपमे उद्यत होकर उसीमे लीन होता हुआ उस तपकी चरम अवस्था ध्यानको प्राप्त होता है और उसी निर्मल तपमे लीन होनेसे उत्पन्न हुए परमानन्दमे रमण करता हुआ प्राणोको छोडता है वह साधु स्वर्गलोकर और मनुष्यलाकके सुखोको भोगकर अर्थात् जीवन्मुक्तिको प्राप्त करके परम मुक्तिको प्राप्त करता है ॥१०४॥

विशेषार्थ--तपके विषयमे भी पाँच आराधनाएँ कही हैं--उद्योतन, उद्यवन, निर्वहण, साधन और निस्तरण। विषयोकी अभिलाषाको छोडकर हिंसाको त्यागना उद्योतनको बतलाता है। निर्मल तपमे उद्यत होना, यह उद्यवनका कथन है। उसीमे लीन होना, यह निर्वहणका सूचक है। उसको उन्नत करते हुए ध्यान तक पहुँचना, साधन है। उससे उत्पन्न हुए आनन्दमे मग्न होकर प्राणत्याग यह निस्तरणको कहता है ॥१०४॥

इस प्रकार आशाधर रचित धर्ममृतमे अनगार धर्मात्मकी भव्यकुमुद चन्द्रिका नामक

संस्कृत टीका तथा ज्ञानदीपिका नामक पंजिकाकी अनुगामिनी हिन्दी टीकामे

तपस्याराधनाविधान नामक सप्तम अध्याय पूर्ण हुआ।

#### अष्टम अध्याय

अथ तपसो विनयभ्रंवेनोपक्षिप्त षडावश्यकानुष्ठानमासूत्रयति--

अयमहमनुभूतिरितिस्ववित्तिविषजत्तथेतिमत्तुचिते।

स्वात्मनि निःशडमवस्थातुमथावश्यकं चरेत् षोढा ॥१॥

अयं--स्वसंवेदनप्रतयक्षोालम्ब्यमानः। विषजन्ती--संगच्छमाना। मतिः--श्रद्धा। निःशड--  
लक्षणया निश्चलं निश्चितसुखं वा। अथ मडले अधिकारे वा ॥१॥

---

अब सावते अध्यायमे ( श्लो. ७५ ) तपके विनय रूपसे संकेतित छह आवश्यकोके अनुष्ठानका कथन करते हैं--

जो स्वसंवेदन प्रत्यक्षका आधार है और मैं इस उल्लेखसे जिसका अनुभव होता है कि घ्यह मैं अनुभूति रूप हूँ इस प्रकारका जो आत्मसंवेदन ( स्वसंवेदन ) है उसके साथ एकमेकरूपसे रिली-मिली घत्थांड इस प्रकारकी मति है । अर्थात् जिस शुद्ध ज्ञान धनरूपसे मेरा आत्मा अवस्थित है उसी रूपसे मैं उसका अनुभव करता हूँ । इस प्रकारकी मति अर्थात् श्रद्धाको घत्थांड इति मति जानना । उक्त प्रकारके स्वसंवेदनसे रिली-मिली इस श्रद्धसे युक्त आत्मामे निःशंक अवस्थानके लिए साधुको छह आवश्यक करना चाहिए । निःशंक शब्दके दो अर्थ हैं--जहाँ घनिड अर्थात् निश्चित घ्शंड अर्थात् सुख है वह निःशंक है । अथवा शंकासे सन्देहसे जो रहित है वह निःशंक है । लक्षणासे इसका अर्थ निश्चल होता है । अतः आत्म स्वरूपमे निश्चल अवस्थानके लिए साधुको छह आवश्यक करना चाहिए । घअथड शब्द मंगलवाची और अधिकारवाची है । यह बतलाया है कि यहाँसे आवश्यकका अधिकार है ॥१॥

विशेषार्थ--छह आवश्यक पालनेका एकमात्र उद्येश्य है आत्मामे निश्चल स्थिति । चारित्र मात्रका यही उद्येश्य है और चारित्रका लक्षण भी आत्मस्थिति ही है । किन्तु आत्मामे स्थिर होनेके लिए सर्वप्रथम उसकी अनुभूतिमूलक श्रद्धा तो होनी चाहिए । उसीको ऊपर कहा है । प्रत्येक व्यक्ति स्वयंको मैं कहता है । इस मैं का आधार न शरीर है न इन्द्रियों है । मुर्देका शरीर और उसमे इनिछ्रयोके होते हुए भी वह मैं नहीं कह सकता । अतः मैं का आधार वह वस्तु जो मुर्देमे-से निकल गयी है । वही आत्मा है । स्वसंवेदन भी उसीको होता है । घस्वड का अर्थात् अपना जो ज्ञान वह स्वसंवेदन है । तो इस स्वसंवेदन प्रत्यक्षका अवलम्बन आत्मा है । मैं से हम उसीका अनुभव करते हैं । इसके साथ ही इस आत्मसंवेदनके साथमे यह श्रद्धा भी एकमेक हुई रहती है कि आत्माका जैसा शुद्ध ज्ञान धनस्वरूप बतलाया है उसी प्रकारसे मैं अनुभव करता हूँ । इस तरह आत्माके द्वारा आत्मामे श्रद्धा और ज्ञानका ऐसा एकपना रहता है कि उसमे भेद करना शक्य नहीं होता । ऐसी श्रद्धा और ज्ञानसे सम्पन्न आत्मामे स्थिर होनेके लिए ही मुनि छह आवश्यक कर्म करता है ॥१॥

अथ मुमुक्षोः षडावश्यककर्मनिर्माणसमर्थनाथर्थं चतुर्दशभिः पद्यैः स्थलशुद्धिं विघत्ते । तत्र तावदात्मदेहानतरज्ञानेन वैराग्येण चाभिभूततत्सामर्थ्यो विषयोपभोगो न कर्मबन्धाय प्रभवतीति दृष्टान्तावष्टम्भेनाचष्टे--

मन्त्रेणेव विषं मृत्यै मध्ववरत्या मदाय वा ।

न बन्धाय हतं ज्ञप्त्या न विरक्त्यार्थसेवनम ॥२॥

अरत्या--अप्रीत्या । मधु त्येव (?) वा इवार्थे । अर्थसेवन--विषयोपभोगः ।

उक्तं च--

घजह विसमुपभुंजंता विज्जापुरिसा दु ण मरणमुवेति ।

पोग्गलकम्मसुदयं तह भुजदि णेव बज्भए णाणी ॥

जह मज्जं पिवमाणो अरईभावेण मज्जदि ण पुरिसो ।

दव्वुवभोगे अरदो णाणी वि ण बज्जदि तहेव ॥ड [ समय प्राभूत, गा. १९५-१९६ ]

अपि च--

ध्मात्रीबालासतीनाथ पदभिनीदलवारिवत ।

दग्धरज्जुवदाभासाद भुज्जन राज्यं न पापभाक ॥ड [ ]

मुमुक्षुओके छह आवश्यक कर्मोंके निर्माणके समर्थनके लिए चौदह पद्योंके द्वारा स्थलशुद्धि करते हुए, सर्वप्रथम दृष्टान्तके द्वारा यह बतलाते हैं कि शरीर और आत्माके भेदज्ञानसे तथा वैराग्यसे विषयोपभोगकी शक्ति दब जाती है अतः उससे कर्मबन्ध नहीं होता--

मन्त्रके द्वारा जिसकी मारनेकी शक्ति नष्ट कर दी गयी है वह विष मृत्युका कारण नहीं होता । अथवा जैसे मद्यविष्यक अरु चिके साथ पिया गया मद्य मदकारक नहीं होता, उसी प्रकार शरीर और आत्माके भेदज्ञानके द्वारा अथवा वैराग्यके द्वारा विषयभोगकी कर्मबन्धनकी शक्तिके कण्ठित हो जानेपर विषयभोग करनेपर भी कर्मबन्ध नहीं होता ॥२॥

विशेषार्थ--सम्यग्दृष्टिका वैषयिक सुखमे रागभाव नहीं होता । इसका कारण है सम्यग्दर्शन । यह सम्यग्दर्शन आत्माकी ऐसी परिणति है कि सम्यग्दृष्टिकी सामान्य मनुष्योकी तरह क्रिया मात्रमे अभिलाषा नहीं होती । जैसे प्रत्येक प्राणीका अपने अनुभूत रोगमे उपेक्षाभाव होता है कोई भी उसे पसन्द नहीं करता । उसी तरह सम्यग्दृष्टिका सब प्रकारके भोगोमे उपेक्षाभाव होता है । इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि जब किसीको यह ज्ञान हो जाता है कि यह मेरा नहीं है, पर है या पराया है तब वह परवस्तुकी अभिलाषा नहीं करता । अभिलाषाके बिना भी पराधीनतावश यदि कोई अनुचित काम करना पडता है तो वह उस क्रियाका कर्ता नहीं होता । उसी तरह सम्यग्दृष्टि भी पूर्व संचित कर्मोंके उदयसे प्राप्त हुए इन्द्रियभोगोको भोगता है तो भी तत्सम्बन्धी रागभावका अभाव होनेसे वह उसकमा भोक्ता नहीं होत । किन्तु मिथ्यादृष्टि विषयोका सेवन नहीं करते हुए भी रागभावके होनेसे विषयोका सेवन करनेवाला ही कहा जाता है । जैसे कोई व्यापीर स्वयं कार्य न करके नौकरकेद्वारा व्यापार कराता है । इस तरह वह स्वयं कार्य न करते हु भी उसका स्वामी होनेके कारण व्यापार सम्बन्धी हानि-लाभका जिम्मेदार होत है । किन्तु नौकर व्यापार करते हुए भी उसके हानि-लाभका मालिक नहीं होता । यही स्थिति मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टिकी है । मिथ्यदृष्ट मालिक है और सम्यग्दृष्टि नौकरकेरु पमे कार्य करता है, हानिसे उसे खेद नहीं होता और लाभसे प्रसन्नता नहीं होती । यह स्वामित्वका अभाव भेदविज्ञान होनेपर ही होता है । तथा इस ज्ञानके साथ ही विषयोकी ओरसे अरु चि हो जाती है उसे ही

बन्धो जनमनि येनयेन निविडं निष्पादितो वसतुना

बाह्यार्थेकरतेः पुरा परिणतप्रालात्मनः साम्प्रतम् ।

तत्तत्तन्निधनाय साधनमभूद्वैराग्यकाष्ठास्पृशो

दुर्बोधं हि तदनयदेपव विदुषामप्राकृतं कौशलम्<sup>६</sup> [

]॥ २ ॥

अथ ज्ञानिनो विषयोपभोगः स्वरूपेण सन्नपि विशिष्टाभवाननास्तीति दृष्टान्तेन दृढयति --

ज्ञो भुञ्जानोऽपि नो भुङ्क्ते विषयांस्तत्फाल्ययात् ।

यथा परप्रकरणे नृत्यननपि न नृत्यति ॥ ३ ॥

ज्ञः-- आत्मज्ञानोपयुक्तः पुमान् । भुञ्जानः -- चेष्टामात्रेणनुभवन् । नो भुङ्क्ते --  
उपयोगवैमुख्याननानुभवति । तत्फलं-- बुद्धपूर्वकरागादिजनितकर्मबन्धेऽद्यालाहमेव लोके शध्यतमो  
यस्येदृक् कलयाणप्रवृत्तिरित्या भिमानीकरसानुविधदप्रीत्यनुबन्धश्च । परप्रकरणे-विवाहादिपर्वणि ।

विरागभव कहते हैं । उपर ग्रन्थकारने जोदो दृष्टानत दिये हैं । वे ही दृष्टानत आचार्य कुन्द-कुन्दने  
समयसारमें दिये हैं । कह है- जैसे कोई वैद्य विष खकर भी सफल विद्याकेद्वारा विषकी मरण शक्ति नष्ट  
कर देनेसे मरता नहीं है, वैसे ही अज्ञानियोंके रागादिका सीदाव होनेसे जो पुद्गल कर्मका उदय बन्धका  
कारण होता है, उसीको भोगता हुआ भी ज्ञानी ज्ञानकी अव्यर्थ शक्तिकेद्वारा रागादि भवोंका अभाव होनेसे  
कर्मके उदयकी नवीन बन्ध कारक शक्तिको रोक देता है । इसलिए उसके नवीन कर्मबन्ध नहीं होता ।  
तथा जैसे कोई पुरुष मदिराके प्रति तीव्र अरुचि होनेसे मदिरापान करके भी मतवाला नहीं होता, उसी  
तरह ज्ञानी भी रागादि भवोंका अभाव होनेसे सब द्रव्योंके भेगमें तीव्र विराग भावके कारण विषयोंको भोता  
हुआ भी कर्मोंसे नहीं बँधता । यह शंका हो सकती है कि जब सम्यग्दृष्टि जीव विषयोंको भेगता है और  
जो उसे प्रिय होता है उसे वह चाहता भी है तब कैसे उसे विषयोंकी अभिलाषा नहीं है ? यह शंका उचि है  
इसका कारण है उसका अभी जघन्य पदमें रहना, और इस जघन्य पदका कारण है चारित्र मोहनीय  
कर्मका उदय । चारित्र मोहके उदयसे जीव इन्द्रियोंके विषयोंमें रत होता है और यदि वह न हो तो वह  
शुद्ध वीतराग होता है । किन्तु दर्शनमोहका उदय न होनेसे यद्यपि वह भेगोंकी इच्छा नहीं करता  
तथापि चारित्रमोहका उदय होनेसे भोगकी क्रिया जबरदस्ती होती है । परन्तु केव क्रियाको देखकर उसकी  
विरागतामें सन्देह करना उचित नहीं है । क्योंकि जैसे न चाहते हुए भी संसारके जीवोंको गरीबी आदिका  
कष्ट भोगना पडता है वैसे ही कर्मसे पीडित ज्ञानी को भी न चाहते हुए भी भोग भोगना पडता है । अतः  
सम्यग्दृष्टी जीव भोगोंका सेवन करते हुए भी उनका सेवक नहीं है क्योंकि बिना इच्छाके किया गया कर्म  
विरागीके रागका कारण नहीं होता । ( पञ्चाध्यायी, उत्तरार्ध २५१ आदि श्लोक ) ॥ २ ॥

ज्ञानीका विषयोपभोग स्वरूपसे सत् होते हुए भी विशिष्ट फलका अभाव होनेसे नहीं है, यह  
दृष्टानत द्वारा दृढ करते हैं--

जैसे दूसरेके विवाह आदि उत्सवमें बलात् नाचनेके लिए पकड़ लिया गया व्यक्ति नाचते हुए भी  
नहीं नाचता, वैसे ही ज्ञानी विषयोंको भोगता हुआ भी नहीं भेगता: क्योंकि विषयोपभोगे फसे वह रहित है  
॥ ३ ॥

उक्तं च--

छसेवंतो वि ण सेवइ असेवमाणे वि सेवओ को वि ।

पगरणचेट्टा कस्स वि ण य पायरणोत्ति सो होई<sup>६</sup> [ समयप्रा., गा. १९७ ] ॥ ३ ॥

अथ ज्ञान्यज्ञानिनोः कर्मबन्धं विशिनष्टि--

नाबुद्धिपूर्वा भगाद्या जज्ञन्याज्ञानिनोऽपि हि ।

बन्धयालं ता बुद्धिपूर्वा अज्ञानियनो यथा ॥ ४ ॥

तथा--तेन अवश्यभोक्तव्यसुखदुःखफलत्वलक्षणेन प्रकारेण । यथाह--

'रागद्वेषकृताभ्यां.....ताभ्यामेवेष्यते मोक्षः' ॥ ४ ॥

---

विशेषार्थ--विषय भोगका फल है बुद्धिपूर्वक रागादिसे होनेवाला कर्मबन्ध । परद्रव्यको भोगते हुए जन्मके सुखरूप या दुःखरूप भाव नियमसे होते हैं । इस भावका वेदन करते समय मिथ्यादृष्टिके रागादिभव होनेसे नवीन कर्मबन्ध अवश्य होता है<sup>६</sup> अतः कर्मके उदयको भोगते हुए जो पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा होती है वह वस्तुतः निर्जरा नहीं है क्योंकि उस निर्जराके साथ नवीन कर्मबन्ध होता है । क्योंकि मिथ्यादृष्टि विषय सेवन करते हुए ऐसा अनुभव करता है कि आज मैं धन्य हूँ जो एस तरहके उत्कृष्ट भोगोंको भोग रहा हूँ । किन्तु सम्यग्दृष्टि पानीके पर द्रव्यको भोगते हुए भी रागादि भवोंका अभव होनेसे नवीन कर्मबन्ध नहीं होता केव निजरा ही होती है । कहा है--'कोई तो विषयोंको सेवन करता हुआ भी नहीं सेवन करता है । और कोई नहीं सेवन करता हुआ भी सेवक होता है । जैसे किसी पुरुषके किसी कार्यको करनेकी चेष्टा तो है अर्थात् स्वयं नहीं करते हुए भी किसीके करानेसे करता है वह एस कार्यका स्वामी नहीं होता । ऐसी हानीकी भी स्थिति होती है । यहाँ ज्ञानीसे आशय है आत्मज्ञानमें उपयुक्त व्यक्ति ॥ ३ ॥

ज्ञानी और अज्ञानीके कर्मबन्धमें विशेषता बतलाते हैं--

जैसे आनीके बुद्धिपूर्वक रागादि भाव बन्धके कारण होते हैं उस तरह मध्यमानी और उत्कृष्ट ज्ञानीकी तो बात ही क्या, जधन्यालानी अर्थात् हीनलानवाले ज्ञानीके भी अबुद्धिपूर्वक रागादिभव बन्धके कारण नहीं होते ॥ ४ ॥

विशेषार्थ-- ज्ञानीके निचली दशामें अबुद्धिपूर्वक रादि भाव होते हैं । पं. आशाधर जीने अबुद्धिका अर्थ किया है आत्मदृष्टि । अर्थात् आत्मदृष्टि पूर्वक होनेवाले भावके अबुद्धि पूर्वक भव कहते हैं । समयसार गाथ १७२ की आत्म खयातिमे आचार्य अमृतचन्द्रजीने लिख है --'जे निश्चयसेलानी है वह बुद्धिपूर्वक रागद्वेषोहरूप आस्त्रव भावक अभाव होनेसे निरास्त्रव ही है । किन्तु इतना विशेष है कि वह ज्ञानी भी जबतक ज्ञानको सर्वोत्कृष्ट रूपसे देखने-जानने और आचारण करनेमें असमर्थ होता है और जधन्यरूपसे ही ज्ञान ( आत्मा ) को देखता है, जानता है, आचरण करता है तबतक उसके भी अनुमानसे अबुद्धिपूर्वक कर्मममल कलंकका सीदावलात होता है क्योंकि यदि ऐसा न होता तो उस ज्ञानीके ज्ञानका जधनय भाव होना संभव नहीं था<sup>६</sup> अतः उसके पौद्गलिक कर्मका बन्ध होता है ।' इसी बातको आचार्यने

कलश द्वारा भी कहा है--अर्थात् आत्मा जब ज्ञानी होता है तब अपने बुद्धि पूर्वक समस्त रागको स्वयं ही सम्यक्त्वकीउतपत्तिक कासे लेकर निरनतर दोड़ता है । और अबुद्धिपूर्वक रागको जीतनेके लिए बारम्बार अपनी शुद्ध चैतन्यरूप शिक्तका स्वानुभाव प्रत्यखरूपसे अनुभवन करता है । इसका आशय है कि ज्ञानी होते ही जब सब रागको हेय जाना तो बुद्धिपूर्वक रागका तो पिरित्याक कर दिया । रहा, अबुद्धिपूर्वक राग, उसके मेटनेका प्रयत्न करता है । इस कलशकी व्याख्या करते हुए पं. राजमलजीने लिखा है-- 'भावार्थ इस प्रकार है--मिथ्यात्व रागद्वेष रूप जो जीवकेअशुद्ध चेतना रूप विभाव परिणाम, वे दो प्रकारके हैं--एक परिणाम बुद्धिपूर्वक है, एक परिणाम अबुद्धिपूर्वक है । बुद्धपूर्वक कहनेपर जो परिणाम मनक क्षरा प्रवर्तते हैं, बाह्य विषयके आधारसे प्रवर्तते हैं । प्रवर्तते हुए वह जीव आप भी जातनता है कि मेरा परिणाम इस रूप है । तथ अन्य जीव भी अनुमान करके जानते हैं जो एस जीवके ऐसे परिणाम हैं । ऐसा परिणाम बुद्धिपूर्वक कहा जाता है' सो ऐसे परिणामको सम्यग्दृष्टि जीव भेट सकता है क्योंकि ऐसा परिणाम जीवकी जानकारमें है । अबुद्धिपूर्वक परिणाम कहनेपर पाँच इन्द्रिय और मनके व्यापरके बिना ही मोहकर्मके उदयका निमित्त पाकर मोह रागद्वेषरूप अशुद्ध विभव परिणामरूप आप स्वयं जीव द्रव्य असंख्यात प्रदेशोंमें परिणामता है सो ऐसा परिणामन जीवकी जानकारीमें नहीं है और जीवके सहाराका भी नहीं है । इसलिए जिस किसी प्रकार भेटा जाता नहीं है । अतएव ऐसे परिणामके मेटनेके लिए निरन्तरपने शुद्धस्वरूपको अनुभवता है । अतः सम्यग्दृष्टि जीव निरास्त्रव है । आशय यह है कि बन्धके करनेवाले तो जीवके राग-द्वेष-मोहरूप भाव हैं । जब मिथ्यात्व आदिका उदय होता है तब जीवका राग-द्वेष-मोहरूप जैसा भाव होता है उसके अनुसार आगामी बन्ध होता है । और जब सम्यग्दृष्टि होता है तब यदि मिथ्यात्वकी सतताका ही नाश हो जाता है तथा उसके साथ अनन्तानुबन्धी कषाय तथा उस सम्बन्धी अविरति और योगीभाव भी नष्ट हो जात हैं और तब उस सम्बन्धी राग द्वेष-मोह भी जीवके नहीं होते । तथा मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धीका आगामी बन्ध भी नहीं होता और यदि मिथ्यावका उपशम ही होता है तो वह सत्तामें रहता है । किन्तु सत्ताका द्रव्य उदयके बिना बन्धका कारण नहीं है । और जो अविरत सम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थनोंकी परिपाटीमें चारित्रमोहके उदयको लेकर बन्ध कहा है उसे यहाँ बन्धमें नहीं गिना है क्योंकि ज्ञानी-अज्ञानीका भेद है । जबतक कर्मके उदयमें कर्मका स्वामीपना रखकर परिणामन करता है तबतक ही कर्मका कर्ता कहा है । परके निमित्तसे परिणामन करे और उसका मात्रलाता-द्वेष रहे तब ज्ञान ही है, कर्ता नहीं है । ऐसी उपेक्षासे सम्यग्दृष्टि होनेपर चारित्रमोहके उदयरूप परिणामके होते हुए भी ज्ञानी ही कहा है । जबतक मिथ्यात्वका उदय है तबतक उस सम्बन्ध रागद्वेष-मोहरूप परिणाम होनेसे अज्ञानी कहा है । ऐसे ज्ञान और अज्ञानीका भेद समझना चाहिए । इसीसे बन्ध और अबन्धका भेद स्पष्ट होता है' कहा भी है-- 'राग और, द्वेषसे की गयी प्रवृत्ति और निवृत्तिसे जीवके बन्ध होता है और तत्त्वानपूर्वक की गयी उसी प्रवृत्ति और वृत्तिसे मोक्ष होता है ॥ ४ ॥'

अथानादिसंतत्या प्रवर्तमानमात्म्नः प्रमादाचरणमनुशोचति--

मत्प्रचुत्य परेहमित्यवगमादाजनम रज्यन् द्विषन् ।

प्राडमिथ्यात्वमुखैश्चतुभिरपि तत्कर्माष्टधा बन्धन् ।

मूर्तेर्मूर्तमहं तदुभदवभवेभवैरसंचिनमयै-

मत्-मत्तश्चिच्चमत्कारमात्रस्वभावादात्म । प्रच्युत्य--पराडमुखीभूय । प्राडमिथ्यात्वमुखैः-  
पूर्वोपात्तमिथ्यात्वासंयमकषाययोगैः । चतुर्भिः, प्रमादस्याविरतावनर्तीतवात् । आत्मा प्रमृत्ते । अपत्र कर्तरि  
तृतीया उक्तं च -

घसामाण्णपच्चया खु चदुरो भण्णंति बंधकत्तारो ।

मिच्छन्तं अविरमणं कसाय जोगा य बोधद्वारं [ समयप्रा. १०९ गा. ]

अपि इत्यादि । प्रतिसमयमायुर्वजं ानावरणदिसपतविधं कर्म कदाचिदष्टप्रकमारमपीतयर्थः । मूर्तेः-  
द्रव्यरूपत्वात् पौद्गलिकै । भावैः- भावमिथ्यात्वरगादिभिः । असंचिनमयैः- परार्थसंचेतनशून्यत्वेनाज्ञान-  
मयैः । योजं योजं- परिणम्य परिणमय । असदं- अवसादमगममहम् । आसदं- प्रपमहम् ॥ ५ ॥

---

अनादिकालसे जो आत्माका प्रमादजनित आचरण चला आता है उसपर खेद प्रकट करते हैं --

बडा खेद है कि चेतनाका चमत्कार मात्र स्वभववाले अपने आत्मासे विमुख होकर और  
शरीरादिकमें घ्यह में हूँड ऐसा निश्चय करके अनादिकालसे इष्ट विषयोंसे राग और अनिष्ट विषयोंसे द्वेष  
करता आया हूँ । और इसीसे पूर्वबद्ध मिथ्यात्व असंयम कषाय और योगरूप चार पौद्गलिक भवोंके क्षरा  
आठ अप्रकारके उन प्रसिद्ध ज्ञानावरणादि रूप पौद्गलिक कर्मोंका बन्ध करता आया हूँ । तथा उन मूर्त  
कर्मोंके उदयकसे उत्पन्न होनेवाले अज्ञान मय मिथ्यात्व रागादि भावरूप परिणमन कर-करके इस संसारमें  
आज तक कष्ट उठा रहा हूँ ॥ ५ ॥

विशेषार्थ-जीव अनादिकालसे अपनी भूलके कारण इस संसारमें दुःख उठाता है आपने चैतन्य  
स्वभवको भूलकर शरीरादिको ही घ्यह में हूँड ऐसा मानता है । जो वस्तुएँ उसे रुचती हैं उनसे राग  
करता है जो नहीं रुचती उनसे द्वेष करता है । ये रागद्वेष ही नवी कर्मबन्धमें निमित्त होते हैं । कहा है-  
आत्मा संसार अवस्थमें अपने चैतन्य स्वभावको छोडे बिना ही अनादि बन्धनके खरा बद्ध होनेसे अनादि  
मोह-राग-द्वेषरूप अशुद्ध भावसे परिणमित होता है । वह जब जहाँ मोहरूप, रागरूप और द्वेषरूप अपने  
भावको करता है उसी समय वहाँ उसी भावको निमित्त बनाकर जीवके प्रदेशोंमें परस्पर अवगाह रूपसे  
प्रविष्ट हुए पुद्गल स्वभावसे ही कर्मपनेको प्राप्त होते हैं । अर्थात् जहाँ आत्मा रहता है वहाँ कर्मवर्गणके  
योग्य पुद्गल पहलेसे ही रहते हैं और आत्माके मिथ्यात्व रागादिरूप परिणामों को निमित्त बनाकर स्वयं ही  
कर्मरूपसे परिणमन करते हैं । उनहें कोई जबरदस्ती नहीं परिणमाता प्रश्न होता है कि जीवके जो राग-  
द्वेषरूप भाव होते हैं क्या वे स्वयं होते है

अथाभेदविनाभवाद् व्यवहारादेव परं प्रत्यात्मनः कर्तृत्वभेक्तृत्वे परमार्थतश्च मातृत्वमात्रमनुचिन्त्य  
भेदविनाच्छुद्धस्वात्यानुभूतये प्रयत्नं प्रतिजानीते --

स्वान्यावप्रतियत्र स्वलक्षणकोयत्यतोऽस्वेऽहमि-

त्यैक्याध्यासकृतेः परस्य पुरुषः कर्ता परार्थस्य च ।

भोक्त नित्यमहंतयानुभवनाज्जातैव चाथत्यो-

स्तत्स्वान्यप्रविभागबोधवतः शुध्दात्मसिध्दयै यते ॥ ६ ॥

या उनका निमित्त कारण है । इसके उत्तरमें कहा है - निश्चयसे अपने चैतन्य स्वरूप रागादि परिणामोंसे स्वयं ही परिणमन करते हुए आत्मा के पौद्गकि कर्म निमित्त मात्र होते हैं । अर्थात् रागादिका निमित्त पाकर आत्माके प्रदेशोंके साथ बँधे पौद्गकि कर्मोंके निमित्त से यह आत्मा अपनेको भूलकर अनेक प्रकारके विभवरूप परिणमन करता है और इन विभवभवोंके निमित्तसे पुद्ग कर्मोंमें ऐसी शक्ति होती है जिससे चेतन आत्मा विपरीत रूप परिणमन करता है । इस तरह द्रव्यकर्मसे भावकर्म और भावकर्मसे द्रव्यकर्म होते हैं । इसीका नाम संसार है<sup>६</sup> बन्धके कारण तत्त्वार्थ सूत्रमें पाँच कहे हैं-मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग । किन्तु समयसारमें प्रमादका अनर्तीव अविरतिमें करनेसे चार ही कारण कहे हैं । मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग । ये चारों द्रव्य प्रत्यय और भवप्रत्ययके भेदसे दो-दो प्रकारके होते हैं । अभवप्रत्यय अर्थात् चेतनाके विकार और द्रव्यप्रत्यय अर्थात् जड पुद्गलके विकार<sup>६</sup> पुद्ग कर्मका कर्ता निश्चयसे पुद्ग द्रव्य ही होता है उसीके भेद मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग हैं । जो पुद्गलके परिणाम हैं वे ज्ञानावरण आदि पुद्गलोंके आनेमें निमित्त हैं । तथा उनके भी निमित्त हैं राग-दोष-मोहरूप आत्म परिणाम । अतः आस्त्रवके निमित्तमें भी निमित्त होनेसे राग-द्वेष मोह ही कारण हैं । सारांश यह है कि ज्ञानावरणादि कर्मोंके आनेका कारण तो मिथ्यात्व आदि कर्मके उदयरूप पुद्गलके परिणाम हैं और उन कर्मोंके आनेके निमित्तका भी निमित्त राग दोष मे रूप परिणाम हैं जो चतनके ही विकार हैं और जीवकी अज्ञान अवस्थामें होते हैं । इस प्रकार आत्मा ही आत्माको बाँधकर दुःख उठात है<sup>६</sup> । ५ ॥

आगे कहते हैं कि भेदविज्ञान होनेसे पहले यह जीव अपनेको परका कर्ता और भोक्ता मानता है । किन्तु यह कर्तृत्व और भेकृत्व व्यवहारसे ही है परमार्थसे आत्मा केवल ज्ञातामात्र है, ऐसा विचारकर भेदविज्ञानसे शुध्द स्वात्माकी अनुभूतिके लिए प्रयत्न करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं --

जीव और अजीवका स्वरूप भिन्न-भिन्न प्रतिनियत है । उसको न जानकर अर्थात् अपने-अपने सुनिश्चित स्वरूपके खरा जीव और अजीवको न जानकर, जीवमें यह मैं हूँ' एस प्रकारके एकत्वका आरोप करनेसे आत्मा परका कर्ता और कर्मादि फलका भोक्ता प्रतीत होता है । किन्तु परमार्थसे सर्वदा 'मैं' इस प्रकारका ज्ञान होनेसे जीव कर्म और कर्मफलका भोक्ता ही है<sup>६</sup> अतः जीव और अजीवके भेदानके बलसे मैं निर्मल अपनी आमाकी प्राप्तिके लिए ही प्रयत्न करनेकी प्रतिज्ञा करता हूँ ॥ ६ ॥

स्वान्यौ--आत्मानात्मानौ । अप्रतियन्-- प्रतीतिविषयावकुर्वन् । स्वेत्यादि- प्रतिनियतस्वरूप- विशेषनियमात् । अस्वे- परिसमन् शीरादौ । परस्य - कर्मादे : । परार्थस्य- कर्मादिफस्य । अर्थात्- परमार्थतः । यथाह--

ध्मात्कर्तारममी स्पृशन्तु पुरुषं सांख्या इवापयाहंताः,



कर्त्तरं कयनतु तं किल सदा भेदावबोद्धः ।

उर्ध्वं तूद्धतबोधधामनियतं प्रत्यक्षमेनं स्वयं

पश्यनतु चयुतकर्मभवमचं ज्ञातारमेक परम् [ समय., कलश, २०५ ]

स्वान्येतयादि--अनयच्छरीरमन्योऽहमित्यादिभेदाज्ञानावष्टःभत् ॥ ६ ॥

विशेषार्थ-- जीव और अजीव दोनों ही अनादिकालसे एक क्षेत्रावगाह संयोगरूप मिले हुए हैं । और आदिसे ही जीव और पुद्गलके संयोगसे अनेक विकार सहित अवस्थाएँ हो रही हैं । किन्तु यदि परमार्थसे देख जाये तो न तो जीव अपने चैतन्य स्वभवको छोड़ता है और न पुद्गल अपने जडपने और मूर्तिकपनेको छोड़ता है । परन्तु जो परमार्थाको नहीं जानते वे जीव और पुद्गलके संयोगसे होनेवाले भावोंको ही जीव जानते हैं । जैसे मूर्तिक पौद्गलिक कर्मके सम्बन्धसे जीवको मूर्तिक कहा जाता है । यह कथन व्यवहारसे है निश्चयसे जीवमें रूप, रस, गन्ध आदि नहीं हैं ये तो पुद्गलके गुण हैं । इन गुणोंका पुद्गलके साथ ही तादात्म्य सम्बन्ध है, जीवके साथ नहीं । यदि जीवको भी रूपादि गुणवाला माना जाये तो वह भी पुद्गल कहायेगा, जीव नहीं । सारांश यह है कि प्रत्येक द्रव्यके अपने-अपने परिणाम भिन्न-भिन्न होते हैं । कोई भी द्रव्य अपने परिणामको दोड़कर अन्य द्रव्यके परिणामको नहीं अपनाता । प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने परिणामका कर्ता होता है और वह परिणाम उसका कर्म है अतः जीव अपने परिणामोंका कर्ता है और उसके परिणाम उसके कर्म हैं । इसी तरह अजीव अपने परिणामोंका कर्ता है और उसके परिणाम उसके कर्म हैं । अतः जीव और अजीवमें कार्यकारणभाव नहीं है । और इसलिए जीव परद्रव्यका कर्ता नहीं है । फिर भी उसके कर्मबन्ध होता है यह अज्ञानकी ही महिमा है किन्तु जैन मतमें सांख्यमतकी रह जीव सर्वथ कर्ता नहीं है । सांख्यमतमें प्रकृतिको ही एकान्तततः कर्ता मानाजाता है । उस तर है जैनमत नहीं मानता । समयसारकशमें कहा है -- अर्हत्के अनुयायी जैन भी आत्माको सांख्य मतवाँकी तरह सर्वथ अकर्त्तर मत मानो । भेदान होनेसे पूर्व सदा कर्ता मानो । किन्तु भेदालान होनेके पश्चात् उन्नत ज्ञानमनिदरमें इस आत्माको नियमसे कर्ता पनेसे रहित अचल एक ज्ञाता ही स्वयं प्रत्यक्ष देखो ।

आशय यह है कि सांख्यमत पुरुषको सर्वथा अकर्ता माना है और जड प्रकृतिको कर्त्तर मानता है । ऐसा माननेसे पुरुषके संसारके अभवका प्रसंग आता है और जड प्रकृति को संसार सम्भव नहीं है क्योंकि वह सुख-दुःखका संवेदन नहीं कर सकती । यदि जैन भी ऐसा मानते हैं कि कर्म ही जीवको अज्ञानी करता है काँकि ज्ञानावरणके उदयके बिना अज्ञानन भव नहीं होता, कर्म ही आत्माको ज्ञानी करता है क्योंकि ज्ञानावरणके क्षयोपशमके बिना ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती । कर्म ही आत्माको सुलाता है क्योंकि निद्रा नामक कर्मके उदय बिना निद्राकी प्राप्ति नहीं होती । कर्म ही आत्माको जगाता है क्योंकि निद्रा नामक कर्मके क्षयोपशमक बिना जागना सम्भव नहीं है । कर्म ही आत्मको दुःखी और सुखी करता है क्योंकि असाता वेदनीय और साता वेदनीय कर्मके उदयके बिना दुःख-सुख नहीं होता ।

अथात्मनः सम्यग्दर्शनरूपतामनुसंधत्ते -

यदि टक्कोत्कीर्णकज्ञायकीवस्वभावमात्मानम् ।

रागादिभयः सम्यविग्वविच्य पश्यामि सुदृगस्मि ॥ ७ ॥

टक्कोत्कीर्णः--निश्चसुव्यक्ताकारः । एकः-- कर्तृत्वभेक्तुत्वरहितः । रागादिभयः--  
रागद्वेषमोहक्रोधमानमायाभ्र्कर्मनोकर्म-मनोवचनकायेन्द्रियेभयः ॥ ७ ॥

अथ रागादिभयः स्वात्मनो विभक्तृत्वं समिर्यते --

ज्ञानं जानत्या ज्ञानमेव रागो रजत्या ।

राग एवस्ति न तवनयत्तच्चिद्रागोऽस्यचित् कथम् ॥ ८ ॥

---

कर्म ही आत्माको मिथ्यादृष्टि करा है क्योंकि मिथ्यात्व कर्मके उदयके बिना मिथ्यात्वकी प्राप्ति नहीं होती ।  
कर्म ही आत्माको असंयमी करता है क्योंकि चारित्रमोहके उदयके विना असंयम नहीं होता । इस प्रकार  
सभी बाते कर्म करता है और आत्मा एकान्तसे अकर्ता है । ऐसा माननेवाले जैन भी सांख्यकी तरह ही  
मिथ्यादृष्टि हैं । अतः जैनोंको सांख्योंकी तरह आत्माको सर्वथ अकर्ता नहीं मानना चाहिए । किन्तु जहाँ  
तक स्व और परका भेदज्ञान न हो वहाँ तक तो आत्माको रागादिरूप भावकर्माका कर्ता मानो ओर भेदविज्ञान  
होनेके पश्चात् समस्त कर्तृत्व भावसे रहित एक ज्ञाता ही मानो । इस तरह एक ही आत्मामें विवक्षावश  
कर्ता-अकर्ता दोनों भव सिद्ध होते हैं ॥ ६ ॥

आगे आत्माको सभ्यगदर्शन स्वरूपका अनुभव कराते हैं --

सम्यक् रूपसे राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, इन्द्रियसे  
भिन्न करके टाँकीसे उकेरे गयेके समान कर्तृत्व, भेक्तृत्वसे रहित एकज्ञायक स्वभाव आत्मका यदि मैं  
अनुभव करता हूँ तो मैं सम्यग्दर्शन स्वरूप हूँ ॥ ७ ॥

विशेषार्थ-- अपनी सभी स्वाभाविक और नैमित्तिक अवस्थाओंमें व्यापत वह आत्मा शुद्धनयसे एक  
ज्ञायक मात्र है उसको रागादि भवोंसे मून, वचन, काय, और इन्द्रियोंसे भिन्न करके अर्थात् ये मैं नहीं हूँ  
न ये मेरे हैं मैं तो एक कर्तृत्व भोक्तृत्वसे रहित ज्ञाता मात्र हूँ ऐसा अनुभवन करना ही सम्यग्दर्शन है ।  
इसमें सातों तत्त्वोंका श्रद्धान समाविष्ट है क्योंकि सात तत्त्वोंके श्रद्धानके विवना स्व और परका सम्यक्  
श्रद्धान नहीं होता । जिसके सच्चा आपा परका श्रद्धान व आत्मका श्रद्धान होता है उसके सातों तत्त्वोंका  
श्रद्धान होता ही है और जिसके सच्चा सातों तत्त्वोंका श्रद्धान होता है उसके आपा परका और आत्मका  
श्रद्धान होता ही है । इसलिए आस्त्रवादिके साथ आपा परका व आत्मका श्रद्धान करना ही योग्य है । सातों  
तत्त्वार्थोंके श्रद्धानसे रागादि मिटारनेके लिए परद्रव्योंको भिन्न माना है । तथा अपने आत्माको भता है तीथे  
प्रयोजनकी सिद्धि होती है । ऐसा करनेसे यदि उक्त प्रकारसे आत्मानुभूति होती है तो वह अपनेको  
सम्यग्दृष्टि मानता है । टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भव रूप आत्मकाका अनुभवरूप सम्यग्दर्शन आत्मासे  
भिन्न पदार्थ नहीं है आत्मा का ही परिणम है अतः जो सम्यग्दर्शन है वह आत्मा ही है, अन्य नहीं है ॥ ७

आगे रागादिसे पने आत्मकाकी भिनताका समर्थन करते हैं--

ज्ञानका स्वभाव जानना है अतः स्व और परका अवभासक स्वभाव वाला होनेसे ज्ञान ज्ञान ही है, ज्ञान रागरप नहीं है। तिला इष्ट विषयमें प्रीति उत्पन्न करनेवाला होनेसे राग राग ही है ज्ञान रूप नहीं है। इसलिए स्व और परका अवभासक स्वभाव चित्स्वरूप

ज्ञानतया--स्वपरावभासकरूपतया । चित् -- चिद्रूपोऽहं स्वपरावभासकज्ञानस्वभावत्वात् ।  
अचित्परस्वरूपसंचेतनशून्यत्वादचेतनः<sup>६</sup> कथम् । उपक्षणमेतत् । तेन द्वेषादीयोऽप्येवमात्मा विवेच्यः ॥ ८ ॥  
एतदेव स्पष्टयितुं दिडमात्रमाह--

नानतरं वाउमनोऽप्यसिम किंपुनर्बाह्यमडगीः।  
तत् कोऽडसंगजेष्वेकयभ्रमो मेऽडाडजादिषु ॥ ९ ॥

वाडमनः-- वाक् च मनश्चेति समाहारः । गणकृतस्यानित्यत्वान्न समासानतः । अउगी--देहवाचम् ॥

९ ।

अथत्मनोऽष्टादृष्टिरूपतामाचष्टे--

यत्कस्मादपि नो विभेति न किमप्याशंसति क्कापयुप-  
क्रेशं नाश्रयते न मुह्यति निजाः पुष्णाति शक्तीः सदा ।  
मार्गानन च्यवतेऽञ्जसा शिवपथं स्वात्मानमोकते  
माहात्म्यं स्वमिभव्यनक्ति च तदसमयष्टाडसदर्शनम् ॥ १० ॥

कस्मादपि--इहपरोकादेः । निःशकिडतोक्तिरियम् । एवं क्रमेणेततरवाक्यैर्निःकांक्षितत्वादीनि सप्त इ  
येयानि । आशंसति--काउक्षति । क्वापि--जुगुप्स्ये द्रव्ये भावे वा । उपक्रेशं -- जुगुप्सां, विचिकित्सा-

---

में स्वसंविदित लेनेपर भी परके स्वरूपको जाननेमें अशक्त होनेसे अचित् राग रूप कैसे हो सकता हूँ ॥ ८  
॥

विशेषार्थ--ज्ञान आत्माका स्वाभाविक गुण है । किन्तु राग, द्वेष आदि वैभविक अवस्थाएँ हैं अतः  
न ज्ञान राग है और न राग ज्ञान है । ज्ञान तो स्वपर प्रकाशक है किन्तु रागका स्वसंवेदन तो होता है  
परन्तु उसमें परस्वरूपका वेदना नहीं होता अतः वह अचित् है और ज्ञान चिद्रूप है । जो स्थिति रागकी है  
वही द्वेष, मोह क्रोधादिकी है ॥ ८ ॥

इसीको और भी स्पष्ट करते हैं--

वचन और मन आन्तरिक हैं, वचन अनतर्जल्प रूप है मन विकल्प है । जब मैं आन्तरिक वचन रूप  
और मन रूप नहीं हूँ तब बाह्य शरीर रूप और द्रव्य वचन रूप तो मैं कैसे हो सक हूँ । ऐसी स्थितिमें हे  
अंग ! केव शरीरके संसर्ग मात्रसे उत्पन्न हुए पुत्रादिकमें एकतवका भ्रम कैसे हो सकता है ॥ ९ ॥

विशेषाथ--यहाँ मन, चवचन, काय और स्त्री-पुत्रदिकसे भिन्नता बतायी है। भाव वचन और भवमन तो आत्मतरिक हैं जब उनसे ही आत्मा भिन्न है तब शरीर और द्रव्य वचनकी तो बात ही कया है वे तो स्पष्ट ही पौद्गलिक हैं। और जब शरीरसे ही मैं भिन्न हूँ तो जो शरीरके सम्बन्ध मात्रसे पैदा हुए पुत्रादि हैं उनसे भिन्न होनेमें तो सन्देह है ही नहीं। इस तरह मैं इन सबसे भिन्न हूँ ॥ ९ ॥

आगे आत्माको अष्टांग सम्यग्दर्शन रूप बतलाते हैं--

जो किसीसे भी नहीं डरता, इस लोक और परोकमें कुद भी आकांशखा नहीं करता, किसीसे भी ग्लनि नहीं करता, न किसी देवताभास आदिमें मुग्ध होता है, सदा अपनी शक्तियोंको पुष्ट करा है, रत्नत्रयरूप मार्गसे कभी विचलित नहीं होता, और परमार्थसे मोखके मागे निज आत्मस्वरूपका ही अवोकन किया करता है तथा जो सदा आत्मीय अचिन्त्य शक्ति विशेषको प्रकाशित किया करता है वह अष्टांग सम्यग्दर्शन मैं ही हूँ ॥ १० ॥

मित्यर्थः । न मुह्यति 'क्वापि' इत्यनुवृत्त्या देवताभसादौ न विपर्येति<sup>६</sup> निजाः-- कर्मयसंवरणनिर्जरण-मोक्षणभयुदयप्रापणदुर्गतिनिवारणादिलक्षणाः<sup>७</sup>। १० ॥

अथ आत्मनो ज्ञानविषयरत्यादिपरिणतिं परामृशति--

सत्यान्यात्माशीरनुभव्यानीयनित चैव यावदिदम् ।

ज्ञान तदिहास्मि रतः संतुष्टः संततं तृपतः ॥ ११ ॥

---

विशेषार्थ--सम्यग्दर्शनके आठ अंग हाते हैं। जैसे आठ अंगोंसे सहित शरीर परिपूर्ण और कार्य करनेमें समर्थ होता है वैसे ही आठ अंगोंसे सहित सम्यग्दर्शन पूर्ण माना जाता है। आचार्य समनतभद्रने कहा है कि अंहीन सम्यग्दर्शन संसारका छेद करनेमें समर्थ नहीं होता। इन आठों अंगोंका स्वरूप पहले कहा है उन्हीकी यहाँ सूचना की है<sup>६</sup> पहा अंग है निःशंकित शंकाका अर्थ भय भी है। वे सात होते हैं -- एस लोक का भय, परोका भय, त्रअत्राणभय, अगुपितभयचख्, मरणी, वेदनाभय और आकस्मिक भय। सम्यग्दृष्टि इन सातों भयोंसे मुक्त होता है<sup>७</sup> क्योंकि वह जानता है कि इस आत्माका ज्ञान रूप शरीर किसीसे भी बाधित नहीं होता। वज्रपात होनेपर भी उसका विनाश नहीं होता। कहा है--निश्चल क्षायिक समयग्दृष्टि भयंकर रूपोंसे, हेतु और दृष्टानतके सूचक वचनोंसे कमी भी विचलित नहीं होता। तथा वह इस जनममें भेगादिकी और परलोकमें इन्द्रादि पकी कामना नहीं करता, यह निःकांक्षित अंग है। तथ सम्यग्दृष्टि वस्तुके धर्म, भूख-प्यास, शीत-उष्णआदि भवों तथा विष्ठा आदि मलिन द्रव्योंसे घृणा भाव नहीं रखता। य निर्विचिकित्सा अंग है। तथ सम्यग्दृष्टि सब पदार्थोंका यथर्थ स्वरूप जाना है इसलिए कुदेवों आदिके सम्बन्धमें भ्रममें नहीं पडता। यह अमूढदृष्टि अंग है। वह अपनी कर्मोंका संवरण करने रूप, निर्जीण करने रूप और मोखण करने रूप शक्तियोंको तथा दुर्गतिके निवारणरूप और अभयुदयको प्राप्त रानेवाली शक्तियोंको बटाता है, पुष्ट करता है यह उपबृंहण गुण है। सम्यग्दृष्टि निश्चयसे टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावरूप है इसिए अपने रत्नत्रयरूप मार्गसे डिगते हुए आत्माको उसी में स्थिर करता है। यह

स्थितिकरण अंग है। तथा निश्चयदृष्टिसे अपना चिद्रूप ही मोक्षका मार्ग है, उसीमें वासलय भव रखनेसे वात्सलय अंग है। अनी आत्मिक शक्तिकाक प्रकट करके प्रभावना अंग पालता है। इस तरह आठ अंग युक्त होनेसे मैं अष्टांग सम्यग्दर्शन रूप हूँ ऐसा सम्यग्दृष्टि अवोकन करता है<sup>६</sup> कदा है अधिक कहनेसे क्या, अतीत कालमें जो मनुष्यरेष्ठ मुक्त हुए और जो भव्य आगे सीखेंगे वह सब सम्यक्तवका माहात्म जानो' ॥ १० ॥

आगे आत्माकी ज्ञानकेविषयमें रति आदि रूप परिणतिको बतलाते हैं--

आत्मा, आशीः अर्थात् आगामी इष्ट अर्थकी अभिलाषा और अनुभवनीय पदार्थ ये तीनों ही सत्य हैं और ये उतने ही हैं जितना स्वयं प्रतीयमान ज्ञान है। इसलिए मैं ज्ञानमें सदा लीन हूँ, सदा सन्तुष्ट हूँ तथा तृप्त हूँ ॥ १० ॥

आगे आत्माकी ज्ञानकेविषयमें रति आदि रूप परिणतिको बताते हैं--

आत्मा, आशीः अर्थात् आगामी इष्ट अर्थकी अभिलाषा और अनुभवनीय पदार्थ ये तीनों ही सत्य हैं और ये उतने ही हैं जितना स्वयं प्रतीयमान ज्ञान है। इसलिए मैं ज्ञानमें सदा लीन हूँ, सदा सन्तुष्ट हूँ तथा तृप्ता हूँ ॥ ११ ॥

इयनित चेव--एतावनत्येव । तथाहि--एतावानेव सत्य आत्मा यावदिदं स्वयं संवेद्यमानं ज्ञानम् । एवमेतावत्येवमात्मा (-वे सत्या) आशीरितावदेव च सत्यमनुभवनीयमित्यपि योज्यम् ॥ ११ ॥

अथ (भेद- ) ज्ञानादेव बन्धोच्चेदे सति मोक्षाभदननतं सुखं स्यादित्यनुशास्ति--

ब्रह्मेधाद्यास्त्रवविनिवृत्तिनान्तरीयकत्तदत्मीदविदः ।

सिध्यति बन्धनिरोधस्ततः शिवं शं ततोऽनन्तम् ॥ १२ ॥

नान्तरीयकी--अविनाभूता । तदित्यादि । स च ब्रह्मेधाद्यास्त्रव आत्मा च तदात्मानो, तयोर्भेदो विवेकस्तस्य विद् ज्ञानं ततः । उक्तं च --

भेदविज्ञानतः सिध्दाः सिध्दा ये किल केचन ।

अस्यैवाभावतो बध्दा बध्दा ये किल केचन ॥ [ सम क., शो. १३१ ]

शं--सुखम् ॥ १२ ॥

---

विशेषार्थ--आत्मामें अनन्त गुण हैं किन्तु उनमें-से एक ज्ञान ही ऐसा गुण है जो स्वपर-प्रकाशक है। उसीकेद्वारा स्व और पररका संवेदन होता है। जो कुछ जाना जाता है वह ज्ञानसे ही जाना जाता है। अतः परमाथसे आत्मा ज्ञानसवभाव है, ज्ञान आत्मा ही है और आत्मा ज्ञानस्वरूप है इसलिए ज्ञानको ही मोक्षका कारण काहा है। क्योंकि ज्ञानका अभव होनेसे अज्ञानीकेव्रतादि मोखके कारण नहीं होते। तथा

आत्माका ज्ञानस्वरूप होना ही अनुभूति है। अतः जितना स्वयं संवेद्यमान ज्ञान है उतना ही आत्मा है, जितना स्वयं संवेद्यमान ज्ञान है उतना ही आगामी इष्ट अर्थकी आकांक्ष है और जितना स्वयं संवेद्यमान ज्ञान है उतना ही सत्य अनुभवनीय है। अर्थात् आत्मा आदि तीनोंका स्त्रोत ज्ञान ही है, ज्ञानसे ही आत्मा आदिकी सत्यताका बोध होता है। इसलिए मैं ज्ञानमें ही सदा सन्तुष्ट हूँ ऐसा ज्ञानी मानता है। ज्ञानके बिना गति नहीं है<sup>१</sup>। ११ ॥

आगे कहते हैं कि भेदाज्ञान कसे ही कर्मबन्धका उच्छेद होनेपर मोक्षकी प्राप्ति होती है और मोक्षकी प्राप्ति होनेसे अनन्त सुखका लाभ होता है --

क्रोध आदि आस्त्रवोंकी विशेषरूपसे निवृत्ति अर्थात् संवरके साथ अविनाभावी रूपसे जो उन क्रोधादि आस्त्रवोंका और आत्माके भेदका ज्ञान होता है उसीसे कर्मोंके बन्धका निरोध हाता है और बन्धका निरोध होनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है और मोक्षकी प्राप्तिसे अनन्त सुख हाता है ॥ १२ ॥

विशेषार्थ--जैसे आत्मा और ज्ञानका तादात्म्य सम्बन्ध होनेसे आत्मा निःशंक होकर ज्ञानमें प्रवृत्ति करता है। यह ज्ञानक्रिया आत्मकी स्वभावभूत है। अतः निषिद्ध नहीं है उसी तरह आत्मा है। क्रोधादि आस्त्रवका तो संयोग सम्बन्ध होनेसे दोनों भिन्न हैं किन्तु आनेके कारण यह जीव उस भेदको नहीं जानकर निःशंक होकर क्रोधमें आत्मकरूपसे प्रवृत्ति करता है। क्रोधमें प्रवृत्ति करत हुए जो क्रोधादि क्रिया है वह तो आत्मकरूप नहीं है। किन्तु वह आत्मरूप मानता है अतः क्रोधरूप, रागरूप और मोहरूप परिणमन करता है। इसी प्रवृत्ति रूप परिणामको निमित्त करके स्वयं ही पुद्गल कर्मका संचय हाता है। इस तरह जीव और पुद्गलका परस्पर अवगाहरूप बन्ध होता है। किन्तु वस्तु तो स्वभावमात्र है। 'स्व' का होना स्वभाव है। अतः ज्ञानका होना आत्मा है और क्रोधादिका होना क्रोधादि है। अतः

अथ प्रकृतमुपसंहरन् शुद्धात्मसंविभादधः क्रियामूरीकरोति--

इतिह्रभेदविज्ञानबाच्छुद्धात्मसंविदम् ।

साखात्कर्माच्छिदं यावलभे तावद् भजे क्रियाम् ॥ १३ ॥

क्रियां--सम्यगानपूर्वकमावश्यकम् । सैष न्यग्भवितज्ञानभावितज्ञानक्रियाप्रधाना मुमुखोरधस्तनभूमिका परिकर्मतयोपदिष्टा । यथाह--

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा,

कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितसतावन्न काचित् क्षतिः<sup>१</sup>

किन्त्वत्रापि समुलसत्यवशतो यत्कर्मबन्धाय तन्

मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः<sup>१</sup> [ सम. कल., श्लो. ११० ]<sup>१</sup> १३<sup>१</sup>

क्रोधका परिणमन ज्ञान नहीं है और ज्ञानका परिणमन क्रोध नहीं है। क्रोधादि होनेपर क्रोधादि हुए प्रवृत्ति होते हैं और ज्ञानके होनेपर ज्ञान हुआ प्रवृत्ति होता है। इस प्रकार ये दोनों एक वस्तु नहीं है। जब इस

तरह दोनोंके भेदको जानता है तब एकत्वका अज्ञान मिट जाता है और अज्ञाननिमित्तिक पुद्गल कर्मका बन्ध भी रुक जाता है। इस तरह भेदज्ञानसे बन्धका निरोध होनेपर मोक्षमुखकी प्राप्ति होती है<sup>९</sup> कहा है - 'जितने भी सिद्ध हुए हैं वे भेदज्ञानसे ही हुए हैं, और जितने बँधे हैं वे सब भेदविज्ञानके अभावसे ही बँधे हैं<sup>९</sup>

ब्रह्मादिमें आये आदि शब्दसे आत्माकी परतन्वतामें निमित्त राग-द्वेष-मोह, बादर-योग, सूक्ष्मयोग अघातिकर्मोंका तीव्र तथा मन्द उदय और कालविशेषका ग्रहण किया है। इन सभीकी निवृत्ती होनेपर ही मोक्षकी प्राप्ति होती है<sup>९</sup> १२<sup>९</sup>

आगे प्रकृत चर्चाका उपसंहार करते हुए कहते हैं कि साधु शुद्ध आत्मज्ञानकी प्राप्ति होने तक क्रियाओंको भी पालन करनेकी प्रतिज्ञा करता है-

इस प्रकार आगममें प्रतिपादित भेदविज्ञानके बलसे साक्षात् घाति-अघाति कर्मोंको नष्ट करनेवाले शुद्ध आत्माके ज्ञानको जब तक प्राप्त करता हूँ तबतक सम्यग्ज्ञानपूर्वक आवश्यक क्रियाओंको मैं पालूँगा अर्थात् शुद्ध सर्वविवर्तरहित आत्माकी सम्प्राप्ति जबतक नहीं होती तबतक साधु आवश्यक कर्मोंको करता है<sup>९</sup> १३<sup>९</sup>

विशेषार्थ-आगे सामायिक चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छह आवश्यकोंका कथन करेंगे<sup>९</sup> यह छह आवश्यक तभी तक किये जाते हैं जबतक मुनिको शुद्ध आत्माकी संवित्तिका लाभ नहीं होता<sup>९</sup> इन षट्कर्मोंसे कर्मबन्धनका उच्छेद नहीं होता<sup>९</sup> कर्मबन्धनका उच्छेद तो शुद्धात्माके संवेदनसे होता है<sup>९</sup> जो मुमुक्षु नीचेकी भूमिकामें स्थित है और ज्ञान तथा क्रियाको भेदकी प्रधानतासे ग्रहण करता है<sup>९</sup> उसके अभ्यास के लिए षट्कर्म कहे हैं<sup>९</sup> कहा है-'जबतक कर्मका उदय है और ज्ञानकी सम्यक् कर्मविरती नहीं है तबतक कर्म और ज्ञानका समुच्चय-इकट्टापना भी कहा है उसमें कुछ हानि नहीं है<sup>९</sup> किन्तु इतना विशेष यहाँ जानना कि इस आत्मामें कर्मके उदयकी परवशतासे आत्माके वशके बिना जो कर्मका उदय होता है वह तो बन्धके ही लिए है<sup>९</sup> किन्तु मोक्षके लिए यतो परम ज्ञान ही है जो कर्मके करनेमें स्वामित्वरूप कर्तृत्वसे रहित है<sup>९</sup> आशय यह है कि जबतक अशुद्ध परिणमन है तबतक जीवका विभावरूप परिणमन है<sup>९</sup> उस विभाव परिणमनका अन्तरंग निमित्त है जीवकी विभाव परिणमनरूप शक्ति, बहिरंग निमित्त मोहनीय कर्मका उदय<sup>९</sup> वह मोहनीय कर्म दो प्रकारका है-निथ्यात्व मोहनीय और चारित्रमोहनीय<sup>९</sup>

ननु च मुमुक्षुश्च बन्धनिबन्धक्रियापरश्चेति विप्रतिषिद्धमेतद् इत्यत्र समाघते-

सम्यगावश्यकधिः फलं पुण्यास्त्रवोऽपि ही<sup>९</sup>

प्रशस्ताध्वसायोहृद्दित् किलेति मतः सताम्<sup>९</sup> १४<sup>९</sup>

अंहश्छित्-पापापनेता<sup>९</sup> उक्तं च-

'प्रशस्ताध्यवसायेन संचितं कर्म नाशयते<sup>९</sup>

काष्ठं काष्ठान्तकेनेव दीप्यमानेन निश्चितम्'( अमित. श्रा. ८/५ )<sup>९</sup> १४<sup>९</sup>

जीवका एक सम्यक्त्व गुण है, जो विभावरूप होकर मिथ्यात्वरूप परिणामा है<sup>६</sup> एक चरित्र गुण है, जो विभावरूप होकर कपायरूप परिणामा है<sup>६</sup> जीवके पहलें मिथ्यात्व कर्मका उपशम या क्षय होता है। उसके बाद चरित्रमोहका उपशम या क्षय होता है<sup>६</sup> निकट भव्यजीवके काललब्धि प्राप्त होनेपर मिथ्यात्व कर्मका उपशम होता है तब जीव सम्यक्त्व गुणरूप परिणामता है<sup>६</sup> यह परिणामन शुद्धता रूप है<sup>६</sup> वही जीव जबतक क्षपक श्रेणीपर चढ़ता है तबतक चारित्रमोहका उदय रहता है<sup>६</sup> उस उदयके रहते हुए जीव विषयकषायरूप परिणामता है वह परिणामन रागरूप होनेसे अशुद्ध रूप है<sup>६</sup> इस तरह एक जीके एक ही समयमेंय शुद्धपना और अशुद्धपना रहता है<sup>६</sup> यद्यपि सम्यग्दृष्टि क्रियासे विरत होता है उसका कर्ता अपनेको नहीं मानता फिर भी चारित्रमोहके उदयमें बलात् क्रिया होती<sup>६</sup> जितनी क्रिया है वह कर्मबन्धका कारण है और एकमात्र शुद्ध चैतन्य प्रकाश मोक्षका कारण है<sup>६</sup> अर्थात् सम्यग्दृष्टिके एक ही कालमें शुद्ध ज्ञान भी है और क्रिया भी है<sup>६</sup> क्रियारूप परिणामसे केवल बन्ध होता है तथा उसी समय शुद्ध स्वरूपका ज्ञान भी है उस ज्ञानसे कमक्षय होता है<sup>६</sup> इस तरह एक जीवके नीचेकी भूमिकामें ज्ञान और क्रिया दोनों एक साथ रहती हैं इसमें कोई विरोध नहीं है<sup>६</sup> अतः जबतक ज्ञानकी कर्मविरति परिपक्वताको प्राप्त नहीं होती तबतक ज्ञानी मुक्ति षट्कर्म करता है<sup>६</sup> १३

इनपर से यह शंका होती है कि मुमुक्षु होकर ऐसी क्रियाएँ क्यों करता है जो कर्मबन्धमें निमित्त पड़ती हैं ? इसका समाधान करते हैं-

आगममें ऐसा मुना जाता है कि प्रशस्त अध्यवसाय अथात् शुभपरिणाम पुण्यास्त्रवका कारण होनेपर भी पापकर्मके नाशक हैं<sup>६</sup> और वे शुभ परिणाम समीचीन आवश्यक विविका फल है<sup>६</sup> अतः साधुओंको प्रशस्त अध्यवसाय मान्य है<sup>६</sup> १४

विशेषार्थ-आचार्य कुन्दकुन्दने प्रवचनसारमें लिखा है-विशिष्ट परिणामसे बन्ध होता है और रागद्वेष तथा मोहसे युक्त परिणामको विशिष्ट कहते हैं<sup>६</sup> जो परिणाम मोह और द्वेषसे युक्त होता है वह अशुभ है और जो परिणाम रागसे युक्त होता है वह शुभ भी होता है और अशुभ भी होता है<sup>६</sup> तथा अमृतचन्दजीने प्र. २-८९ टीकामें लिखा है-परिणाम दो प्रकारके हैं-एक परद्रव्य प्रवृत्त और एक स्वद्रव्यमें प्रवृत्त<sup>६</sup> जो परिणाम परद्रव्य प्रवृत्त होता है उसे विशिष्ट परिणाम कहते हैं और स्वद्रव्यमें प्रवृत्त परिणाम परसे उपरक्त न होनेसे अविशिष्ट कहा जाता है<sup>६</sup> विशिष्ट परिणामके दो भेद हैं-शुभ और अशुभ<sup>६</sup>

ननु मुमुक्षाः पापबन्धवत् पुण्यबन्धोऽपि कथमनुरोद्धव्यः स्यादिति वदनतं प्रतयाह-

मुमुक्षोः समयाकर्तुः पुण्यादभयुदयो वरम् ।

न पापाद्दुर्गतिः सह्यो बन्धोऽपि ह्यक्षयरिये ॥ १५ ॥

समयाकर्तुः- कालं यापयतः । उदरसीनज्ञानाकरणशीस्य वा । वरं-मनागिष्टः । दुर्गतिः-  
ननकादिगतिर्मिथ्याज्ञानं दारिद्र्यं वा ।



पुण्य पौद्गलिक कर्मोंके बन्धमें निमित्त होनेसे शुभ परिणामको पुण्य कहते हैं और पापकर्मोंके बन्धमें कारण होनेसे अशुभ परिणामको पाप कहते हैं । और अविशिष्ट परिणाम तो शुद्ध होनेसे एक रूप ही है । उसीसे दुःखोंका क्षय होकर भेक्षकी प्राप्ति होती है ।

तत्त्वार्थ सूत्र ( ६/३) में भी 'शुभःपुण्यस्य अशुभः पापस्य' लिखकर उक्त कथनका ही पोषण किया है । उसकी टीका सर्वार्थसिद्धि आदिमें भी यही कहा है । उसमें यह शंका की गयी है कि जो शुभ कर्मोंका कारण है वह शुभयोग है और जो अशुभ कर्मोंका कारण है वह अशुभ योग है । यदि ऐसा क्षण किया जाये तो किया हानि है ? इसके समाधानमें कहा है-- यदि ऐसा क्षण किया जायेगा तो शुभयोगका ही अभाव हो जायेगा । क्योंकि आगममें कहा है कि जीवके आयुक्कर्मके सिवाय शेष सात कर्मोंका आस्त्रव सदा होता है । अतः शुभ योगसे भी ज्ञानावरण आदि पापकर्मोंका बन्ध होता है । उक्त कथन घति कर्मोंकी अपेक्षासे नहीं है अघति कर्मोंकी अपेक्षा है । अघाति कर्म पुण्य और पापके भेदसे दो प्रकार है । सो उनमेंसे शुभयोगसे पुण्यकर्मका और अशुभसे पापकर्मका आस्त्रव होता है । शुभ परिणामसे होनेवाले योगको शुभ और अशुभ परिणामसे होनेवाले योगको अशुभ कहते हैं । इस तरह शुभ परिणामके द्वारा पुण्य प्रकृतियोंमें तीव्र अनुभगबन्ध और पाप प्रकृतियोंमें मन्द अनुभगबन्ध होता है । इसीसे शुभ परिणामको पुण्यास्त्रवका कारण और पापका नाश कहा है । आ.. अमितगतिने कहा है- किन्हींका कहना है कि आवश्यक कर्म नहीं करना चाहिए क्योंकि उनका करना निष्फल है । यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि आवश्यकका फल प्रशस्त अध्यवसाय है और प्रशस्त अध्यवसायसे संचित कर्म असी तरह नष्ट हो जाते हैं जैसे अग्निसे काष्ठ । यह कथन आपेक्षिक है । आवश्यक करते समय यदि कर्ताकी वृत्ति केन्द्र बाह्य क्रियाकी और ही अनन्मुख है तो उस प्रशस्त अध्यवसायसे कर्मोंका विनाश सम्भव नहीं है । ऊपर कहा है कि दोन तरहके परिणाम होते हैं स्वद्रव्यप्रवृत्त और परद्रव्यप्रवृत्त । परद्रव्य प्रवृत्त परिणामके भेद ही अशुभ और शुभ परिणाम हैं । बाह्य क्रिया करते हुए भी कर्ताका जो परिणाम आत्मोन्मुख हाता है ही परिणामांश संचित कर्मके विनाशमें हेतु होता है । उसके साहचर्यसे परद्रव्य प्रवृत्त शुभ परिणामको भी कर्मखयका कारण कह दिया जाता है । वस्तुतः वह पुण्यबन्धका ही कारण होता है ॥ १४ ॥

इसीसे यह शंका होती है कि पुण्यबन्ध भी तो बन्ध ही है । अतः जो ममुक्षु है -- बन्धसे दूअना चाहता है उससे पापबन्धकी तरह पुण्यबन्धका भी अनुरोध नहीं करना चाहिए । इसके समाधानमें कहते हैं --

वीरतराग विज्ञानरूप परिणमन करनेमें असमर्थ मुमुक्षुके लिए पुण्यबन्धसे स्वर्ग आदिकी प्रापित उत्तम है, पापबन्ध करके दुर्गतिकी प्रापित उत्तम नहीं है । क्योंकि जो बन्ध अर्थात् पुण्यबन्ध शाश्वत लक्ष्मीकी ओर हो जाता है वह बन्ध होनेपर भी सयहन करनेके योग्य है ॥ १५ ॥

यथाह--

'वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्वत नारकम् ।

छायातपसायोर्भेदः प्रतिपालयतोमंहान् ॥' [ इष्टोप. शो. ३ ]

सह्य इत्यादि । अयमत्राभिप्रायः -- यथ निवर्याजभक्तिभजोऽनुजीविनः स्वामिना किामपि निगडिताः सनतः पुनस्ततः शाश्वती-श्रियमिच्छन्तस्त भदक्तिमेवोपचिन्वन्ति । तथा मुतमुक्षवोऽपि शुध्दस्वात्मानुभमि मविन्दन्तो जिनभक्ति भाविताः सत्नतस्तदुपदिष्टां क्रियां चरनतस्तनिनबन्धनं पुण्यबन्धमपवर्गलखमी सिध्दयडध्यानसाधनसमर्थोत्तमसंहननादिनिमित्त्वादभयुपगच्छन्ति ॥ १५ ॥

अथैवं कर्तव्यतया व्यवस्थापितस्यावश्यकस्य निर्वचनक्षरेणावतार्य लक्षणमपलक्षयति-

यद्व्याध्यादिवशेनापि क्रियतेऽक्षावशेन तत् ।

आवश्यकमवश्यस्य कर्माहोरात्रिमकंमुनेः ॥ १६ ॥

विशेषार्थ--यद्यपि पापबन्धकी तरह ही बन्ध होनेसे पुण्यबन्ध भी उपादेय नहीं है तथपि जो मुमुक्षु अपनेको वीतरागविनतामें सर्पित करनेमें असर्मिला होता है वह पुण्यबन्धके कारणभूत कार्योंमंक प्रवृत्ति करता है । जैसे निष्टपट भक्ति करनेवो सेवक स्वामीके क्षरा किसी भी प्रकारसे बन्धनमें डाल दिये जानेवपर भी उससे शाश्वत लक्ष्मीकी प्राप्ति की इच्छा रखते हुए उसकी भक्ति ही करते हैं उसी प्रकार मुमुख्यु भी शुध्द स्वात्मानुभूतिको न प्राप्त करनेपर जिनभक्तिमें तत्पर होते हुए जिन भगवानके क्षरा कही गयी क्रियाओंको करते हैं और उससे होनेवाले पुण्यबन्धको इसलिए स्वीकार करते हैं कि पुण्यबन्धके निमित्तसे उत्तम संहनन आदि प्राप्त होते हैं जो मोक्षरूपी लमीकी सिध्दिके कारण ध्यानकी साधना में समर्थ होते हैं । अर्थात् संसारिक सुखकी चाहसे पुण्यबन्ध निकृष्ट है किन्तु मुक्ति सुखकी चाहसे हुआ पुण्यबन्ध निकृष्ट नहीं है । यद्यपि मोक्षमार्गमें लगनेपर भी अयाचित पुण्यबन्ध होता है क्योंकि नीचेकी भूमिकामें स्थित मुमुक्षु सर्वदा स्वात्मोन्मुख नहीं रह सकता अतः वह अशुभोपयोगसे बचनेके लिए शुभोपयोग करता है और उससे पुण्यबन्ध होता है । इस पुण्यबन्धसे भी वह यदही चाहता है कि असे उत्तम कुल, उत्तम जाति, मनुष्य जन्म, श्रावक कुल आदि प्राप्त हो जिससे मैं मोक्षकी साधना कर सकूँ । अतः पुण्यबन्धके साथ यह भवना उत्तम है । इसीसे सम्यग्दृष्टिकेपुण्यको परम्परासे मोक्षका कारण कहा है । किन्तु पुण्यबन्धसे मोक्ष नहीं होता, मोक्ष तो पुण्यबन्धके निरोधसे होता है । पुण्यकी उपादेयता केवल पापसे बचनेके लिए है । इष्टोपेशमें कहा है-- अब्रतोंका आचरण करके उसके द्वारा होनेवाले पुण्यबन्धसे मरकर स्वर्गमें देवपद पाना रेष्ट है किन्तु व्रतोंको न अपनाकर हिंसा आदि कार्योंके खरा पापकर्म करके नरकम

नारकी होना उत्तम नहीं है । छायामें बैठकर दूसरेकी प्रतीक्षा करनेवो और धूपमें खड़े होकर दूसरेकी प्रतीक्षा करनेवो मनुष्योंमें बडा भरी अन्तर है । कुन्दकुन्दाचार्यने मोक्षपाहुड ( गा. २ ) में भी ऐसा ही कहा है । अतः पुण्यबन्धकेभयसे व्रताकि पान न करना उचित नहं है ॥ १५ ॥

इस प्रकार समुनिके लिए आवश्यक करना आवश्यक है यह स्थापित करके निरुक्ति पूर्वक लक्षण कहते हैं --

रोग आदिसे पीडित होनपर भी इन्द्रियोंकेअधीन न होकर मुनिकेक्षरा जो दिन-रात केकर्तव्य किये जाते हैं उन्हे'आवयक कहते हैं । जो 'वयय' अर्थात् इन्द्रियोंकेअधीन नहीं होता है उसे अवश्य कहते हैं । और अवश्यकेकर्मका आवश्यक कहते है ॥ १६ ॥

अवश्यस्य--वध्युपसर्गाद्यभिभूतस्य इन्द्रियानायत्तस्य वा ॥ १६ ॥

अथवश्यकभेदोद्देशार्थमाह--

सामायिकं चतुर्विंशतिस्तवो बन्दना प्रतिक्रमणम् ।

प्रतयाख्यानं कायोत्सर्गश्चावश्यकस्य षड्भेदाः ॥ १७ ॥

स्पष्टम् ॥ १७ ॥

अथ निखेपरहितं शास्त्रं व्याख्यायमानं वक्तुः रोटुश्चोत्पथेतयानं कुर्यादिति नामादिषु षड्सु पृथक्  
निक्षिप्तानां सामायिकादीनां षयणामप्यनुष्ठेयतामुपदिशति--

नामस्फिपिनयोद्रव्यक्षेत्रयोः कालभावयोः ।

पृथग्निक्षिप्य विधिवत्साध्याः सामायिकादयः ॥ १८ ॥

विधिवत्- आवश्यकनिर्युक्तिनिरूपितविधानेन ॥ १८ ॥

---

विशेषार्थ--यहाँ 'आवश्यक' शब्दकी निरुक्ति और क्षण दोनों कहे हैं । वश्य उसे कहते हैं जो किसीके अधीन होता है और जो ऐसा नहीं होता उसे अवश्य कहते हैं और उसके कर्मको आवश्यक कहते हैं । आर्चा कुन्दकुन्दने भी कहा है--जो अन्यके वशमें नहीं है उसके कर्मको आवश्यक कहते हैं । जो मुनि अन्यके वशमें होता है वह अशी भवरूपसे वर्तन करता है उसका कर्म आवश्यक नहीं हो सकता । अर्थात् जो श्रमणभास द्रव्यलिंगी राग आदि अशुभभवा रूपसे वर्तन करता है वह परद्रव्यके वशमें होता है । वह केवल भेजनके लिए द्रव्यलिंग ग्रहण करके आत्मकार्यसे विमुख हो, तपश्चरण आदिसे भी उदासीन होकर जिनमन्दिर और सकी भूमि आदिका स्वामी बन बैठता है यह नियमसारकी टीका में पद्मप्रभ मलधारि देवने लिखा है जो उनके समयके मठाधीश साधुओंकी ओर संकित है । अतः इन्द्रियोंके अधीन जो नहीं है ऐसा साधु जो जिनेन्द्रके द्वारा कथन आवश्यकोंका आचरण करता है उन्हें आवश्यक कहते हैं--

आवश्यकके भेद कहते हैं--

सामायिक, चतुर्विंशतिस्वत, बन्दना, प्रतिक्रमण, प्रतयाख्यान, कायोत्सर्ग यश्च आवश्यकके दह भेद  
हैं ॥ १७ ॥

निक्षेपके बिना किया गया शास्त्रका व्याख्यान वक्ता और श्रोता दोनोंको ही उनमार्गमें ले जाता है । अतः नाम आदि छह निषेधोंमें पृथक्पृथक्-पृथक्पृथक् निखेप करके सामायिक आदि छह आवश्यकोंका व्याखन करनेका उपदेश करते हैं --

नाम, स्थापना, द्रव्य, खेत्र, काल और भावमें पृथक्पृथक् निक्षेप करके सामायिक आदि छह  
आवश्यकोंका आवश्यकनिर्युक्तिमें कही हुई विधिके अनुसार श्याखान करना चाहिए ॥ १८ ॥

रागाद्यबाधबोधः स्यात् समायोऽस्मिन्निरुच्यते ।

भवं सामायिकं सामयं नामादौ सतयसत्यपि ॥ १९ ॥

समाय इत्यादि । समो रागोषाभ्यामबाध्यमानोऽयो बोधः समायः । अस्मिन्-- समाये उपयुक्त नोआगमभावसामायिकाख्ये भवं सामायिकं तत्परिणतनोआगमभावसामायिकाख्यम् । निरुच्यते--अर्थानुगतं कथ्यत इत्यादिः । साम्यं--समस्य कर्म, शुद्धचिन्मात्रसंचेतनम् । सति--प्रशस्ते । असति--अप्रशस्ते । तथहि--नामसामायिकं शुद्धभशुभनामानि श्रुत्वा राद्वेषवर्जनम् । स्थापनासामायिकं यथोक्तमानोन्मानादिगुणमनोहराविस्वतरासु च स्थापनासु रागद्वेषनिषेधः । द्रव्यसामायिकं सुवर्णमृत्तिकादिद्रव्येषु रम्यारम्येषु समदर्शित्वम् । क्षेत्रसामायिकमारामकण्टकवनादिषु च शुभशुभक्षेत्रेषु समभावः । कालसामायिकं वसनतग्रीष्मादिषु

---

विशेषार्थ-- आगममें किसी भी वस्तुका व्याख्यान निक्षेपपूर्वक करनेका विधान है । उससे अप्रकृतका निराकरण होकर प्रकृतका निरूपण होता है<sup>६</sup> जैसे सामायिकके दह प्रकार होते हैं--नाम सामायिक, स्थापना सामायिक, द्रव्य सामायिक, क्षेत्र सामायिक, का सामायिक और भाव सामायिक । इसी तरह चतुर्विंशतिस्तव आदिके भी छह निखेपोंकी अपेक्षा छह-छह प्रकार होते हैं । ये सब मिलकर छत्तीस प्रकार होते हैं । जहाँ जिसकी विवक्षा हो वहाँ उसका ग्रहण करना चाहिए ॥ १८ ॥

सामायिकका निरुक्तिपूर्वक लक्षण कहते हैं--

राग द्वेषसे अबाध्यमान ज्ञानको समाय कहते हैं । उसमें होनवाले साम्यभावको सामायिक कहते हैं । प्रशस्त और अप्रशस्त नाम स्पिनाआदिमें राग खेष न करना साम्य है ॥ १९ ॥

विशेषार्थ -- सामायिक शब्द सम और अयक मेलसे निषपन्न हुआ है । समका अर्थात् होता है राग और द्वेषसे रहित । तथा अयका अयका होता है ज्ञान<sup>६</sup> अतः राग द्वेषसे रहित ज्ञान समाय है और उसमें जो हो वह सामायिक है<sup>६</sup> यह सामायिक शब्दका निरुक्ति परक अर्थ है । इसे साम्य भी कहते हैं । समके कर्मको साम्य कहते हैं । वह है शुद्ध विचनतमात्रका संचेतन या अनुभवन । राग द्वेषके दूर हुए विना शुद्ध चिन्मात्रका संचेतन हो नहीं सकता । कहा है - जिसका मन रुपी जल राग द्वेष आदि लहरोंसे रहित है वह आत्माके तत्त्वका अनुभवन करता है और जिसका मन राग द्वेषसे आकुल है वह आत्मतत्त्वका अनुभवन नहीं कर सकता । अच्छी या बुरी वस्तुओंके विषयमे राग द्वेष न करना साम्य है । जाति, द्रव्य, गुणध , क्रियाकी अपेक्षा किसीका नाम सामायिक रखना नाम सामायिक निक्षेप है । अच्छे बुरे नामोंको सुनकर राग खेष न करना नाम सामायिक है । जो मनुष्य सामायिक आवश्यकमेंसंगन है उसके आकारवी या उसके समान आकार न रखनेवाली किसी वस्तुमें उसकी स्थापना सामायिक निक्षेप है । और वह स्थपना यदि समीचीन में हो तो उससे राग नहीं करना और असुनदर वस्तुमें हो तो उससे द्वेष नहीं करना स्थापना सामायिक हे । जो भविष्यमें सामायिक रूपसे परिणत होगा या हो चुका है उसे द्रव्य सामायिक निद्वेष कहते हैं । उसकेदो भेद हैं--आगम द्रव्य सामायिक और नोआगम

ऋतुषु दिनरात्रिसितासितपक्षादिषु च यथास्वं चार्वाचारुषु रागद्वेषानुभवः । भावसामायिकं सब्रजीवेषु मैत्री भवोऽशुपरिणमवर्जनं वा । तथ अपि शब्दस्यानुक्तसमुच्चर्यात्त्वाद्यमप्यर्थे वक्तव्यः । जातिद्रव्यक्रिया गुणनिरपेखं संज्ञाकरणं सामायिकशब्दमात्रं नामासायिकम् । सामायिकावश्यकपरिणतस्य तदारेऽतदारे वा वसतुनि गुणाला रोपणं स्थपनासामायिकम् । द्रव्यसामायिकं भविष्यत्परिणामाभिमुखमतीततत्परिणाम वा वसतु द्रव्यं तस्य सामायिकम् तच्च द्विविधमागमद्रव्यसभयिकं नोआगमद्रव्यसामायिकं चेति । सामायिकवर्णक प्राभृतायी जीवोऽनुपयुक्त आगमद्रव्यसामायिकम् । नोआगमद्रव्यसामायिकं तु त्रिविधं सामायिकवर्णक प्राभृतायकशरीर-भविजीवतद्व्यतिरिक्तभेदेन । ज्ञातुः शरीरं त्रिधा भूतवर्तमानभविष्यद्गीदात् । भूतमपि त्रिधा च्युतं च्यावितं त्यक्तं चेति । पक्वफलमिवायुषः खयेण पतितं चयुतम् । कदलीघतेन पतितं च्यावितम् । त्यक्तं पुनस्त्रिधा भक्तप्रत्याख्यानेउिनीपादोपगमनमरणैः । भक्तप्रत्याख्यानमपि त्रिधा उत्कृष्टमध्यमजघन्यभेदात् । उत्कृष्ट भक्ततयागस्य प्रमाणं द्वादशवर्षाणि । जघन्यस्यान्तर्मुहूर्तमद्य । तयोरन्तरालं मध्यमस्य । भविकाले सामायिकप्रभ.तज्ञायिजीवो भाविनोआगमद्रव्यसामायिकम् । तद्व्यतिरिक्तं द्विविधं कर्मनोकर्मभेदेन । सामायिकपरिणतजभ्वेनार्जिततीर्थकरादिशुभप्रकृतस्वरूपं नोआगमतद्व्यतिरिक्तं द्रव्यसामायिकम् । नोकर्मतद्व्यतिरिक्तं तु द्रव्यसामायिकं तु त्रिविधं सचित्ताचित्तमिश्रभेदात् । सचित्तमुष्पाध्यायः । अचित्तं पुस्तकम् । दीयस्वरूपं मिश्रमद्य । क्षेत्रसामायिकं सामायिकपरिणतजीवाधिष्ठितं स्थानमूर्जयनतचम्पापुरादि । कालसामायिकं यस्मिन् को सामायिकस्वरूपेण परिणतो जीवः स कालः पूर्वाह्नपराह्णमध्याह्नादिभेदभिन्नः । भावसामायिकं

---

द्रव्य सामायिक । जिस शास्त्रमें सामायिकका वर्णन है उस शास्त्रका ज्ञाता जब उसमें उपयुक्त नहीं होता तब उसे आगम द्रव्य सामायिक कहते हैं । नोआमगम द्रव्य सामायिकके तीन भेद हैं--सामायिकका वर्णन करनेवो शास्त्रके ज्ञाताका शरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्त । ज्ञाताका शरीर भूत, वर्तमान और भविष्यके भेदसे तीन प्रकार है । भूत शरीरके भी तीन भेद हैं -- च्युत, च्यावित और त्यक्त पके हुए फलकी तरह आयुका क्षय होनेसे जो शरीर स्वयं छूट गया उसे च्युत कहते हैं । जो शरीर अकामें मरणसे छूटा उसे च्यावित कहते हैं । त्यक्त शरीरके भक्त प्रत्याख्यानमरण, इंगिनीमरण, पादोपगमनमरणके भेदसे तीन भेद हैं । भक्त प्रत्याख्यानके भी तीन भेद हैं--उत्कृष्ट, मध्यम औरजघनय भोजनत्यागका उत्कृष्टकाल बारह वर्ष है, जघन्य अन्तर्मुहूर्त है और दोनोंके बीचका का मध्यम है । जो जीव भविष्यमें सामायिक विषयक शास्त्रका ज्ञाता होगा वह भवि नोआगम द्रव्य सामायिक है । तद्व्यतिरिक्तके दो भेद हैं--कर्म और नोकर्म । सामायिक करते हुए जीवके द्वारा उपार्जित तीर्थकर आदि शुभ प्रकृतियोंको नोआगम द्रव्य कर्म तद्व्यतिरिक्त कहते हैं । नोकर्म तद्व्यतिरिक्त नामक द्रव्य सामायिक निखेपके तीन भेद हैं--सचित्त. अचित्त अरौर मिश्रा । उपाध्याय सचित्त है, पुस्तक अचित्त है और जो दोनों रूप हो वह मिश्र है । यह सब द्रव्य सामायिक निखेपके भिद हैं । सुवर्ण, मिट्टी आदि सुन्दर और असुन्दर द्रव्योंमें राग-द्वेष न करना द्रव्य सामायिक है । सामायिक करते हुए जीवोंसे युक्त स्थान चम्पापुर, गिरिनार आदि खेत्र सामायिक है । तथा उद्यान, कँटीला जंग आदि रमणीक और अरमणीक खेत्रोंमें राग-द्वेष न करना क्षेत्र सामायिक है ।

जिस कामें सामायिक की जाती है वह काल सामायिक है<sup>६</sup> वह प्रातः, मध्याह्न और शामके भेदसे तीन प्रकार है । तथा वसन्त, ग्रीष्म आदि ऋतुओंमें, दिन-रातमें, शुक्ल और कृष्णपक्ष आदिमें राग-द्वेष न करना कासामायिक है । वर्तमान पर्यायसे युक्त द्रव्यको भाव कहते हैं । उसकी सामायिक भाव सामायिक निद्वेष है । उसके दो भेद हैं-- आगम भाव सामायिक और नोआगम भाव सामायिक । सामायिक विषयक शास्त्रका जो

वर्तमानपर्यायोपखितं द्रव्यं भावः । तस्य सामायिकं ( भोवसामायिकं तच्च ( क्षिद्विधमागमभावसामायिक नोआगमभावसामायिकं चेति । सामायिकवर्णकप्राभृतकायक उपयुक्तो जीव आगमीभावसामायिकम् । नोआगमभावसामायिकं क्षिद्विधमुपयुक्ततत्परिणतभेदात् । ( सामायिकप्राभृतकेन विना सामायिकार्थेषूपयुक्तो जीवः उपयुक्तनोआगमभाव-) सामायिकम् । रागखेषजभावस्वरूपेण परिणतो जीवस्तत्परिणतनोआगमभावसामायिकम् । एष न्यायो यथास्वमुत्तरेष्वपि योज्यः । अथैषां षण्णामपि मध्ये आगमभावसामायिकेन नोआगमभावसामायिकेन च प्रयोजनमिति ॥ १९ ॥

निरुक्त्यनतरेण पुनीर्भावसामायिकं लीक्षयन्नाह-

समयो दृग्ज्ञानतपोयमनियमादौ प्रशस्तसमगमनम् ।

स्यात् समय एव सामायिकं पुनः स्वार्थिकेन ठण् ॥ २० ॥

समयः--अत्र समितिप्राशस्त्य एकीभावे च विवक्षितः । अय इति गमने । नियमादौ आदिशब्देन परीषकहषायेन्द्रियजयसांादुर्लेश्यादुर्ध्यानर्जनादिपरिग्रहः । समं समानमेकत्वेनेतयर्थः । ज्ञाणा ' विनयादेष्टण' इत्यनेन विहितेन । उक्तं च--

'सम्मतणाणसंजमतवेहिं जें तं पसत्थसमगमणं ।

समयं तु तं तु भणिदं तमेव सामादयं जाणे ॥ [ मूलचार. गा. ५१९ ] इत्यादि ॥ २० ॥

---

ज्ञाता उसमें उपयुक्त है वह आगम भाव सामायिक है । नोआगम भाव सामायिकके दो भेद हैं--उपयुक्त और तत्परिणत । सामायिक विषयक शास्त्रके बिना सामायिकके अर्थमें उपयुक्त जीवको उपयुक्त नोआगम भाव सामायिक कहते हैं । तथा राग-द्वेषके अभाव रूपसे परिणत जीव तत्परिणत नोआगम भाव सामायिक है । तथा सब जीवोंमें मैत्रीभाव और अशुभ परिणामका त्याग भाव सामायिक है<sup>६</sup> यहाँ उक्त दह प्रकारकी सामायिकोंमें-से आगम भाव सामायिक और नोआगमभाव सामायिकसे प्रयोजन है ॥ १९ ॥

आगे अन्य प्रकारसे निरुक्ति करके भाव सामायिकका क्षण कहते हैं--

दश्रन, ज्ञान, तप, यम, नियम आदिके विषयमें प्रशस्त एकत्व रूपसे गमन करनेको समय कहते हैं । और समय ही सामायिक है इस प्रकार समय शब्दसे स्वार्थम ठण् प्रत्यय होकर सामायिक शब्द बनता है ॥ २० ॥

विशेषार्थ--सम् और अयक मेलसे समय शब्द निष्पन्न हाता है । सम् शब्दके दो अर्थ होते हैं-- प्रशस्ताता और एकत्व । तथा आयका अर्थ होता है गमन । आदि शब्दसे परीषह, कषाय ओर इन्द्रियोंको जीवतना, संज्ञा, खोआ ध्यान, अशुभ श्याओंका त्याग आदि लेना चाहिए । अतः दश्रन, ज्ञान, तप, यम, नियम, पीरषहजय, कषायजय, इन्द्रियजय आदि के विशयमें प्रशस्त एकत्वरूपसे परिणत होना अर्थात् राग-द्वेष आदि न करना समय है और समय ही सामायिक अै इस तरह संस्कृत व्याकरणके अनुसार समय शब्दसे स्वामं ठण् प्रतयय करके और ठणके स्थानमें इकृ होकर सामायिक शब्द बनता है ।

मूलाचामें का है--समयगदर्शन, सम्यगज्ञान, संयम और तपके साथ जो एकमेकपना है अर्थात् जीवका उन रूपसे परिणमन हे उसे समय कहते हैं और समयको ही सामायिक जानो ॥ २० ॥

अथ पञ्चदशभिः शकैः सामायिकाश्रयणविधिभिर्भवातुकामः प्रियं तावननामसामायिकं भावयन्नाह--

शुभेऽशुभे वा केनापि प्रयुक्ते नाम्नि मोहतः ।

स्वमवागक्षणं पश्यन् रतिं यामि नारतिम् ॥ २१ ॥

अवागलक्षणं-लक्ष्यते इति क्षणं लक्षणीयं विष्य इति यावत् । वाचां क्षणं वाग्लक्षणम् । न तथा, वाचामविषय इत्यर्थः ।

यथाह--

'यज्जानन्नपि बुद्धिमानपि गुरुः शक्तो न वक्तं गिरा  
प्रोक्तं चेन्न तथापि चेतसि नृणां सम्माति चाकाशवत् ।  
यत्र स्वानुभवस्थितेऽविप विरा लक्ष्यं लभन्ते चिरात्  
तनमोक्षैकनिबन्धनं जियते चित्तत्वमत्यभ्दुतम् ॥ [ पञ्च. पञ्च. १०/१ ]

अथवा न वाक्शब्दो क्षणं स्वरूपं यस्य सोऽवाग्लक्षणस्तम्, अशब्दात्मकमित्यर्थः । यथाह--अरसम रुमित्यादि ॥ २१ ॥

अथ स्थापनासामायिकं भावयन्नाह--

यदियं स्मरत्यर्चा न तदपयस्मि किंपुनः ।

इयं तदस्यां सुस्थेति धीरसुस्थेति वा न मे ॥ २२ ॥